चिन्तन - चिन्तामणि

गीता - चिन्तन

(सहित)



लेखक : गोलोकवासी श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र'






गोलोकवासी चक्र जी महाराज

अध्यात्म जगत् की विभूति, भारतीय संस्कृति के प्रणेता, नवीन परिवेश में सदाचार एवं नैतिक मूल्यों के प्रतिष्ठापक साहित्य-साधना से दिग् भ्रान्त मानव आज के आलोक वाही पथ प्रदर्शक साहित्यकार एवं बहु आयामी प्रतिभा के धनी महान तत्व चिन्तक के रूप में श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र' जी का नाम भारत में कौन नहीं जानता?

प्रेम लक्षणा पराभक्ति के अन्तर्गत सम्बन्धात्मक धारणा का आश्रय कर अनिकेत, अपरिग्रही व सरल-स्वभावी सन्त ''श्री सुदर्शन सिंह चक्र'' श्री आंजनेय को अपना अग्रज व श्रीकृष्ण-कन्हाई को प्रिय अनुज मानते थे। आप गीता प्रेस गोरखपुर की ''कल्याण'' के मनस्वी कहानीकार तथा मथुरा से प्रकाशित ''श्रीकृष्ण सन्देश'' पत्रिका के यशस्वी सम्पादक थे। शुकतीर्थ में हनुमद्धाम की संस्थापना भी आपकी ही कृपा का फल है। इन्होंने अपने जीवन में अनकों पुतकें विलक्षण शैली में लिखी है। जो आध्यात्मिक ज्ञान में मणि के रूप में विख्यात है। इनकी ही 'मानस के अनुष्ठान' सद्य-फल-प्रदाता एवम भक्तों की कामना पूर्ति करने वाली पुस्तिका है। मानस पाठ के सभी अधिकारी है। इनकी याचना भी विलक्षण ही थी।

माँगूगा न मुक्ति-भुक्ति माँगूगा न भोग-योग,
देना मुझे कसक भरी पीड़ा का व्यवहार।
करना मत किसी की कृपा का पात्र, तुम्हें छोड,
देना मत किसी की प्रशंसा का व्यर्थ भार।




चिन्तन — चिन्तामणि

गीता - चिन्तन

(सहित)

लेखक :

गोलोकवासी श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र'

संरक्षक :
हनुमद्धाम
श्री राम अध्यात्मिक प्रन्यास
शुकतीर्थ, जि०-मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
पिन - 257316

- **संस्करण द्वितीय - 2016**
आश्विन कृष्ण एकादशी, सं. 2072
तिथि - श्रीचक्रजी का स्वलोक गमन

- **प्रतियाँ - 1100 प्रति**

- **मूल्य : 125/-(एक सौ पच्चीस रूपये मात्र)**

- **प्रकाशक : श्रीमती उमा पाठक**
रामनिकुंज, प्रेम नगर, एटा
(उ.प्र.) पिन - 207001
ईमेल : pathakuma786@gmal.com

- **मुद्रक**
राधा प्रेस, 38/2/16, साइट 4
साहिबाबाद (उ.प्र.)

श्री सुदर्शन सिंह "चक्र"

(एक परिचय)

हनुमद्धाम के संस्थापक, उन्नायक और निर्देशक श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र' का जन्म सकलडीहा रेलवे स्टेशन से 6 कि.मी. दूरी पर स्थित ग्राम भेहलटा तहसील चन्दौली जिला वाराणसी (उ.प्र.) में क्षत्रीय (रघुवंशीय) परिवार में दिनांक 14 नवम्बर सन् 1911 ई. (कार्तिक शुक्ल गोपाष्टमी) को हुआ था। आपको हिन्दी, संस्कृत, गुजराती और बंगला भाषा का उत्कृष्ट ज्ञान था। जन्मजात अक्खड़ स्वभाव और फक्कड़ व्यक्तित्व ने इन्हें अनिकेत अपरिग्रही, एकान्तप्रिय एवं जगत् से निरपेक्ष बना दिया था। इन्हीं दिनों देश में गाँधी जी के नेतृत्व में स्वतंत्रता संग्राम की लहर चरमोत्कर्ष पर थी, देश प्रेम की पुनीत भावना से प्रभावित नवयुवक चक्रजी का मानस उद्वेलित हो उठा और स्वाधीनता के असहयोग आन्दोलन में खुलकर भाग लेने लगे। इस क्रम में कई बार जेल भी जाना पड़ा। 1933 में गाँधी-इर्विन समझौते के समय जूनागढ़ शिविर में मंत्री रूप में जब आप पं. शान्तनुबिहारी द्विवेदी (सन्यास के बाद अनन्त श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती) से अनन्य मित्रता की डोर में बँधे कि राष्ट्र भक्ति भगवद् भक्ति में परिवर्तित हो गई। 1936 में आप वृन्दावन आकर भगवद्साधना करने लगे। 1937 से 1941 तक मेरठ की पत्रिका 'संकीर्तन' का सम्पादन किया। फिर 'मानसमणि' रामवन सतना (म.प्र.) के सम्पादक के साथ-साथ गीताप्रेस, गोरखपुर की प्रमुख पत्रिका 'कल्याण' के यशस्वी सम्पादक श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार ने कल्याण के कई विशेषांक के सम्पादन में श्री सुदर्शनसिंह का सहयोग लिया, जिनमें कुछ हैं—नारी अंक, हिन्दू-संस्कृति अंक, भक्त चरितांक, बालकांक, सन्तवाणी अंक, सत्कथा-अंक, तीर्थांक, मानवता-अंक, भवगन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अंक, धर्मांक, श्री रामवचनामृतांक इत्यादि। कल्याण के मासिक अंकों में आपकी लिखी कहानी नियमित छपती थी जिनमें लेखक के नाम में केवल 'चक्र' लिखा होता था। आप जीवन पर्यन्त आध्यात्मिक ग्रन्थों के लेखन में व्यस्त रहे। पौराणिक उपन्यास लेखन में आप सिद्धहस्त थे। जितनी अधिक संख्या में आपने हिन्दी में पौराणिक उपन्यास लिखे हैं, इतनी संख्या में और किसी ने नहीं लिखा है। आप द्वारा लिखी गई पुस्तकों में प्रमुख हैं—जरठ जटायु, महात्मा बाली, श्रीरामचरितमानस में विवेकी विभीषण, श्रीरामचरितमानस में सुमंत्र, श्री भगवन्नाम संकीर्तन, दिव्य दशमी, मानस-मंदाकिनी (तीन खण्डों में), विधाता विश्वामित्र, ब्रह्मर्षि वशिष्ठ, श्री हनुमान चरित्र, देवर्षि नारद, शत्रुघ्न कुमार की आत्मकथा, माता सुमित्रा, रामवन, नव-निर्झरिणी, अष्टदल,

नूतन-नवरत्न, जीवन निर्माण, प्रभु आवत, मानस के अनुष्ठान, राक्षस राज, साधन सोपान, मानस के मंगलाचरण, भगवान वासुदेव, श्री द्वारिकाधीश, पार्थसारथि, नन्दनन्दन, आंजनेय की आत्मकथा, हमारी संस्कृति, राम-श्याम की झाँकी (दो खण्डों में), सखाओं के कन्हैया, श्याम का स्वभाव, हमारे धर्मग्रन्थ, कर्म रहस्य, साध्य और साधन, कन्हाई, शिव चरित्र, मजेदार कहानियाँ, कल्कि-अवतार या कलयुग का अन्त, भगवान् वामन, गोलोक एक परिवार, श्री कृष्ण पंचशील सर्वरूप, उन्मादिनी यशोदा, शिव स्मरण, हमारे अवतार एवं देवी-देवता, हिन्दुओं के तीर्थ स्थान, ज्ञान गंगा भक्ति भागीरथी, नवधा भक्ति, दस महाव्रत, सांस्कृति कहानियाँ (12 खण्डों में), प्रेरक प्रसंग, मधु बिन्दु और ज्योति कण, पंचगीत, पुराण-विज्ञान और रहस्य, रामचरित मानस में पंचायती राज्य, वीणा के तार, पर्वोत्सव विवरण, अमृत पुत्र, पलक झपकते-वे मिलेंगे, श्री रामचरित (चार खण्डों में), स्वजनों की दृष्टि में, बालकृष्ण और आपकी चर्या इत्यादि। आपने निम्न पुस्तकों का भी सम्पादन किया है-हरि लीला, भागवत् परिचय, श्रीमद्भागवत महापुराण (पदच्छेद, अन्वय एवं हिन्दी शब्दार्थ टीका सहित)।

निरन्तर साहित्य साधना में रत रहने वाले श्री चक्र जी ने सर्वदा शास्त्रीय सिद्धान्तों को ही सर्वोच्च माना। आप अध्यात्म-ज्ञान के मणी के रूप में लब्धप्रतिष्ठित होते हुए भी होमयोपैथ, आयुर्वेद एवं प्राकृतिक चिकित्सा के अच्छे जानकार थे। आप ज्योतिष के भी अप्रतिम मर्मज्ञ थे।

बहु आयामी व्यक्तित्व के धनी श्रीचक्र जी ने दिनांक 25 सितम्बर सन् 1989 एकादशी तिथि को गोलोक धाम की ओर प्रयाण किया।

पाँच भौतिक शरीर द्वारा हमसे परोक्ष होने पर उनकी कृपा प्रत्यक्ष रूप में हनुमद्धाम के विकास में सम्बल है। उनकी अन्तस्थ कल्पना से प्रकटित साहित्य सरिता निरन्तर इस महापुरुष (श्रीचक्र जी) का यशोगान करती हुई प्रवाहित होती रहेगी।

—x—

हनुमद्धाम

श्रीराम आध्यात्मिक प्रन्यास

(संक्षिप्त परिचय)

श्री शुकतीर्थ

जिस प्रकार नदियों में गंगा, देवताओं में विष्णु और वैष्णवों में भगवान शंकर सबसे उत्तम हैं, वैसी ही पुराणों में श्रीमद्भागवत् पुराण सर्वश्रेष्ठ है। यह पुराण दोषरहित अत्यन्त निर्मल ग्रन्थ है। इसमें जीवनमुक्त परमहंसो के सर्वोत्तम, अद्वितीय एवं विशुद्ध ज्ञान का वर्णन किया गया है।

शुकतीर्थ वही पावन स्थान है जहाँ शुकदेवजी के मुख से निःसृत श्रीमद्भागवत कथा मानव के तीन भव–तापों के शमन के लिए घोषणा कर रही है–

श्री शुक मुनि भागवत कही लीनों जगत उबार।
नहि अब लौं भवसिंधु में, डूबि जान संसार।।

मुजफ्फरनगर जनपद से 29 किमी. दूर माँ भागीरथी गंगा के तट पर स्थित शुकतीर्थ उत्तर भारत का अत्यंत पौराणिक धार्मिक तथा सुरम्य तीर्थ स्थल है। इसका अन्य पुराणों एवं श्रीमद्भागवत महापुराण में आनन्दवन नाम से भी वर्णन मिलता है इसको ही शुकतार अथवा शुकताल या शुक्रताल कहते हैं। मुजफ्फरनगर से यहाँ तक बस, टैम्पो इत्यादि द्वारा पहुँचा जा सकता है। श्री शुकदेव जी ने यहीं महाराज परीक्षित को श्रीमद्भागवत सुनाई थी। श्रीमद्भागवत की उद्गम–स्थली होने के कारण यह भूमि सदा से ही सन्त महात्माओं की साधना–स्थली रही है। यहाँ के तपोमय सात्विक वातावरण से मुग्ध होकर ही श्री 'चक्र' जी महाराज ने इसे श्रद्धालुओं को श्रद्धा केन्द्र जानकर इसी शुकतीर्थ को हनुमद्धाम के निर्माण के लिए चुना।

हनुमद्धाम में श्री हनुमान–विग्रह का स्वरूप

हनुमद्धाम में हनुमान–विग्रह सिद्धपीठ के रूप में प्रतिष्ठित है। सिद्धपीठ का अभिप्राय है–जीव को समस्त लौकिक परितापों से छुटकारा दिलाकर परम प्राप्तव्य भगवत्प्राप्ति के जाग्रत साधन का केन्द्र।

श्री हनुमान जी का यह विग्रह श्री चरणों से मुकुट तक 66 फुट तथा सतह से मुकुट तक 77 फीट ऊँचा, चित्ताकर्षक नयनाभिराम एवं प्रसन्न वरद्–मुद्रा में विराजित हैं इस विग्रह के अन्दर भारत की विभिन्न लिपियों में लिखे 700 करोड़ भगवन्नाम (विग्रह में समाहित भगवन्नाम जिस कागज पर अंकित है उसका वजन 14 टन तथा क्षेत्रफल 10050 घनफुट है) सुरक्षित करके स्थापित किये गये हैं। विग्रह के प्रत्येक अंग में नख से शिख पर्यन्त भगवन्नाम समाहित किये हैं। श्री हनुमान जी का यह चित्ताकर्षक,

नयनाभिराम एवं प्रसन्न मुद्रा में स्थित विग्रह को देखने से ऐसा लगता है कि अभी-अभी गगन चुम्बी, कनक भूधराकार विग्रह प्रकट हो गया है। इसके श्रीअंग-उपांग वस्त्र-आभूषण, आयुध सभी में राम-नाम समाहित हैं यह विग्रह वज्रांग है तथा 'वामहस्त गदायुक्तम्' है, अर्थात् बाँया हाथ गदा से युक्त है जो इनका प्रमुख आयुध हैं इसे कंधे के सहारे युद्ध की मुद्रा में नहीं अपितु बाँये चरण के सहारे टिकाये, कर-कमल से बड़ी सहजता से सँभाले हैं, मानों शरण में आये जीव को समस्त विघ्न बाधाओं और लौकिक परितापों से संरक्षण करने का वचन दे रहे हों। दाहिना हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में है इस विग्रह के दर्शन से ही भक्त-साधक में अपूर्व आत्मबल, धैर्य, साहस, अभय, एवं शान्ति का संचार हाने लगता है।

हनुमान मंदिर

जिस पर विशाल श्री हनुमत-विग्रह है उसी पीठिका पर एक और श्री हनुमान जी का सुन्दर और आकर्षक लघु-विग्रह-मंदिर है।

इस विग्रह के अंग-उपांग में राम नाम समाहित है। दैनिक मंगलादर्शन, अभिषेक पूजा-अर्चना, शृंगार-सेवा, राजभोग, नीराजन, उत्थापन, संध्या-आरती, शयन-आरती, आदि अष्टायाम-सेवा इसी मंदिर में स्थित लघु विग्रह का होता है। मथुरा वृन्दावन में श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह का जिस प्रकार शृंगार किया जाता है, उसी प्रकार इस विग्रह की प्रतिदिन अलग-अलग रंगों के अनुसार वस्त्र-आभूषण से शृंगार सज्जा होती है। इस प्रकार की आकर्षक सज्जा श्री अवध के अतिरिक्त अन्यत्र देखने को कम ही मिलती है।

—x—

अनुक्रमणिका

चिन्तन-चिन्तामणि

गीता-चिन्तन



पुस्तक प्राप्ति स्थान :

1. **हनुमद्धाम**
शुकतीर्थ, जिला-मुजफ्फरनगर-231316 (उ.प्र.)
दूरभाष : 01396-228225

2. **खण्डेलवाल एण्ड संस**
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
दूरभाष : 0565-2443101
मोबाइल : 9997977551

3. **प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र**
ए-3, आर्य नगर, मुरलीपुरा,
जयपुर-302039 (राजस्थान)
मोबाइल : 9829347773, 8104891536

4. **श्री घनश्याम शर्मा**
श्रीकृष्णजन्मस्थान, मथुरा (उ.प्र.)
मो. 08445403040

दो शब्द

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।

—गीता १२।८

'मुझमें ही मनको भली-भाँति रख दो और मुझमें बुद्धिको प्रविष्ट करो ! इसके पश्चात् मुझमें ही निवास करोगे; इसमें संदेह नहीं है ।'

श्रीकृष्णकी यह बात कम लोगोंके गले उतरती है ? भक्तगण अपने आराध्यमें मन लगानेका भरपूर प्रयत्न करते हैं और चिन्तन करते भी हैं तो केवल आराध्यके ऐश्वर्यका समर्थन करनेके लिए। अपनेको दार्शनिक या वेदान्ती कहनेवाले विचारक तथा ज्ञानमार्गी बुद्धि-व्यायाम तो भरपूर करते हैं किंतु मनको छोड़ ही देते हैं ।

श्रीकृष्ण-चरित (भगवान् वासुदेव, श्रीद्वारिकाधीश, पार्थसारथि, नन्द-नन्दन), श्रीरामचरित (चारों खण्ड), शिवचरित, आञ्जनेयकी आत्म-कथा, शत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा, प्रभु आवत, वे मिलेंगे, कन्हाई (श्यामका स्वभाव भी), राम-श्यामकी झाँकी, सखाओंका कन्हैया आदिमें मनको भगवान्‌में रख देनेका ही प्रयत्न है । आप इनको पढ़ेंगे तो कम-से-कम उतनी देर मन भगवान्‌में ही रखा रहेगा ।

बुद्धिको रखा नहीं जा सकता और भगवान् बुद्धिकी पहुँचमें हैं भी नहीं । लेकिन बुद्धिको प्रवेश करानेका प्रयत्न करना पड़ता है । इस प्रयत्नमें ही बुद्धिकी सार्थकता है, धन्यता है; क्योंकि तब बुद्धि संसारमें नहीं लगी होती । तब मायिक पदार्थोंका चाकचिक्य नष्ट हो जाता है । तब वैराग्यको दृढ़ प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है ।

अतः 'चिन्तन-चिन्तामणि' यही प्रयास है । बुद्धि भटके नहीं; भ्रान्त न हो, इसलिये है यह प्रयास ।

श्रीकृष्ण–जन्मस्थान, मथुरा
भाद्र शु० ९ (भागवत-जयन्ती)
सं० २०३७ वि०

—सुदर्शनसिंह 'चक्र'

परमात्माका स्पर्श

आप यह तो समझते ही हैं कि दर्शनकी अपेक्षा स्पर्श अधिक निकटता एवं घनिष्ठता रखता है। दर्शन दूरसे भी हो सकता है; किंतु स्पर्श तो सर्वथा पाससे ही सम्भव है। आपको परमात्माका दर्शन और स्पर्श बराबर हो रहा है, यह कहा जाय तो आप मान लेंगे ?

बिस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वास।
लोक कल्पना बेदकर अङ्ग-अङ्ग प्रति जासु॥

विष्णु सहस्रनामका पहला नाम है–'विश्वं' और भगवान् शंकरका एक नाम है भव। यह जो कुछ संसारके रूपमें आप देख रहे हैं, भगवान् ही हैं। अतः भगवान् आपको सदा प्राप्त हैं। वे न कहीं दूर हैं, न खोये हैं और न छिपे ही हैं।

यह स्थिति शास्त्र, संत तथा विचारके अनुसार सर्वथा सत्य होनेपर भी यह तो तथ्य है ही कि भगवत्प्राप्ति हुई नहीं लगती ? जन्म-मरणका अनादिक्रम चल रहा है। जीवनमें आनन्दकी बात तो दूर, सुखोंकी अपेक्षा दुःख ही अधिक हैं। अतः यह बुद्धिमान विवेकी पुरुषकी माँग है कि इन क्लेशोंको मिटानेके लिए भगवत्प्राप्ति होनी ही चाहिए।

भगवान्को न कहींसे बुलाना है, न प्रकट करना है। आवश्यक यह है कि समझदारीको जगाया जाय। भगवान्की अप्राप्तिका भ्रम मिटे। यह भ्रम ही अविद्या है और इसी अविद्यासे राग-द्वेष, ममता तथा देहासक्ति उत्पन्न हुई है।

भगवान्की प्राप्ति कैसे होगी ? अधिकांश लोगोंकी मान्यता है कि रूप-विशेष या ज्योति विशेषका दर्शन हो तो भगवत्प्राप्ति हुई। इस मान्यतामें दोष यह है कि यह अपरिक्षित रह जाती है। यह देखा ही नहीं

जाता कि भगवत्प्राप्ति हुई तो अविद्या और उसका परिवार मिट गया या नहीं ? राग-द्वेष, शरीरासक्ति आदि नहीं मिटे तो अविद्या मिटी ?

दूसरी बात—रूप बहुत विश्वास करनेयोग्य आधार नहीं है; क्योंकि नकली रूप बनाना सहज है। मनुष्य ही कुशल हो तो ऐसे रूप बना सकता है कि पहिचानना कठिन हो जाता है। मायासे, जादूसे, मेस्मराइज्मसे, वैज्ञानिक उपकरणोंसे चाहे जो रूप बनाये—दिखाये जा सकते हैं।

सेंधानमक बहुत स्वच्छ पारदर्शी आता है। फिटकरी, मिश्रीकी डली और सेंधानमकके एक जैसे टुकड़े पास रखे हों तो उनको पहचाननेमें भूल सम्भव है या नहीं ? रूप यहाँ भ्रममें डालता है। ठीक पहचान जीभ बतावेगी अर्थात् इनमें ठीक निर्णय रसके द्वारा ही होगा।

रूप क्या है ? रेखाओंका तीन आयामोंवाला फैलावा अर्थात् उसमें लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई होती है तथा रंग होते हैं। वह नेत्रोंके द्वारा जाना जाता है। परमात्माका अनुभव यदि केवल नेत्रोंके द्वारा सम्भव हो तो अन्धोंके लिए तो वह अलभ्य ही हो गया। साथ ही केवल रंगीन रेखामात्र रह गया।

आपने अन्धे, गूंगे-बहरे, लूले-लँगड़े, कोढ़ी और पागल देखे हैं, किंतु इनमें कभी परमात्माकी अहैतुकी कृपाका दर्शन किया है ? किया तो है, किंतु उसपर कभी ध्यान नहीं दिया। परमात्माके विधानमें कोई कैसा भी पापी हो, यह नहीं है कि उसे परमात्माके साक्षात्कारके ही योग्य न रहने दिया जाय। इसे आप देखलें तो आपको उसकी अहैतुकी कृपाके दर्शन होने लगेंगे।

आप कोई अनुभव कैसे करते हैं ? नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना, त्वचा इन पाँच इन्द्रियोंमें किसीके द्वारा या बुद्धिसे ? कोई गलित कुष्ठका रोगी हो, रोग बहुत बढ़ा हो तो वह लूला-लँगड़ा और अन्धा भी हो जा सकता है, किंतु कभी आपने ऐसे रोगीको पागल देखा है ? अथवा गूंगा-बहरा भी हो गया हो, यह पाया है ?

गलित कुष्ठ गूंगे-बहरेको हुआ हो, यह मैंने सुना नहीं है। ऐसे रोगीको पागलपन हो जाय तो भी उसकी जीभ स्वाद लेनेमें असमर्थ नहीं होती।

अनेक अन्धे केवल स्वरसे बतला सकते हैं कि बोलनेवाला मोटा है या पतला। आप भी जानते हो कि किसीकी एक इन्द्रिय मारी जाती है तो उसकी अन्य इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ जाती है। इसका अर्थ ही है कि परमात्माका अनुभव करनेमें मनुष्य किसी अवस्थामें अयोग्य नहीं होता।

हम आप ऐन्द्रियक जीवन ही नहीं बिताते। बहुत अधिक नेत्रोंपर निर्भर रहनेके अभ्यासी हैं, इसीसे हमें दर्शनका बहुत अधिक मोह है। लेकिन जन्मसे अन्धे या गूंगे-बहरे मजेसे जीवन व्यतीत करते हैं। वे संसारका अनुभव कैसे करते हैं, यह कभी आपने ध्यान ही नहीं दिया। यह ध्यान देते तो परमात्माके अनुभवके सम्बन्धमें आपका दृष्टिकोण बहुत व्यापक बन जाता। क्योंकि परमात्मा केवल आकार या रूपमात्र नहीं है। आपने पढ़ा है—

नामरूप दुइ ईस उपाधी।
अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥

मैंने एक भाईको नाम जप करनेको कहा। उनकी शङ्का आयी— 'मुन्नी समीप बैठी हो और मैं मुन्नी, मुन्नी रटूँ तो वह प्रसन्न होगी या चिढ़ेगी ?'

यह तर्क उठा ही इसलिए कि व्यक्ति तथा पदार्थके समान ही भगवन्नाम समझ लिया गया। पदार्थ तो नमक है। उसे अँग्रेजीमें साल्ट कहेंगे और गुजराती मीठा कहते हैं। रामानन्दी वैष्णव रामरस कहते हैं। पदार्थके ये सब नाम कल्पित-केवल संकेत करने वाले।

व्यक्तिका नाम तो और भी क्षणिका। एक सज्जनका नाम बचपनमें था घूरेलाल। पढ़ने लगे तो अपना नाम उन्होंने प्रभासचन्द्र कर लिया। कविता करने लगे तो नामके साथ 'परिमल-उपनाम लगा लिया। प्रसिद्ध होनेपर वे परिमलजी ही हो गये। संयोगवश वैराग्य हुआ, संन्यासी बने तो गुरुने नाम रखा प्रबोधानन्द। थोड़े शिष्य बन गये उनके तो वे प्रबोध स्वामी हो गये।

हमारे परिचितोंमें थे मोकलपुरके बाबा और मधईपुरके बाबा। ये जिन गाँवोंमें रहते थे, उन गाँवोंके नाम इनके हो गये। ऐसे ही देवरहा बाबाका नाम हममें कोई नहीं जानता। विनोबाजी अब बाबा ही लिखते हैं हस्ताक्षरके स्थानपर। तात्पर्य यह कि व्यक्तिका भी पदार्थके समान कोई नाम नहीं है। नाम केवल उसे संकेत करनेके लिए कल्पित कर लिया गया है। इसीसे वह बदला जा सकता है—बदलता रहता है।

भगवानका नाम भी इसी प्रकार कल्पित नहीं है। सच तो यह है कि शब्दमात्र भगवन्नाम ही है।

'न स शब्दो नयः शिवः'

ऐसे ही रूपमात्र भगवद्रूप है। पहले ही कह आये कि विश्व भगवान् ही हैं। लेकिन हमारा काम-हमारा उद्धार इस बातपर निर्भर है कि हमारे अन्तःकरणमें भगवद् भाव बने। भगवान्‌की स्मृति जागृत हो। इसलिए जिन शब्दोंको हम भगवन्नाम समझते हैं, हमारे लिए वही शब्द भगवन्नाम बन सकते हैं। जिन रूपोंको हम भगवान्‌का रूप समझते-जानते हैं, हमारे लिए उन्हीं रूपोंमें भगवान्‌का स्मरण हमारे हृदयको शुद्ध करनेवाला है।

इसमें भूल यही रहती है कि आप रूपको तो भगवान् मानते हो; किंतु नामको भगवान् मानते ही नहीं हो। इसलिए आपकी धारणा बन गयी है कि रूप दीखे तो भगवान् मिले। लेकिन नाम भी उतना ही भगवान् है, वैसा ही प्रभावशाली है, जैसा रूप। गोस्वामी तुलसीदासजी तो नामको अधिक प्रभावशाली मानते हैं। आप भी यह तो जानते ही हो कि रूप आपके वशमें नहीं है। वह कब आपके लिए प्रकट होगा, यह उसकी इच्छा, किंतु नाम आप अभी ले सकते हो।

भगवन्नाम लेना वैसा नहीं है जैसे मुन्नी-मुन्नी कहना। भगवन्नाम लेना ठीक कैसा है, यह शब्दमें समझाया नहीं जा सकता। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजीने 'अकथ' कहा है, किंतु कुछ संकेत ही करना हो तो कहना पड़ेगा कि नाम ऐसा है जैसे आप समीप बैठे भगवान्‌को स्पर्श कर रहे हैं। यह आपकी भावनापर निर्भर है कि आप कृष्ण-कृष्ण कहते यह

अनुभव करें कि कन्हाईकी अलकोंपर, पीठपर हाथ फेर रहे हैं या उसके चरणोंको सहला रहे हैं। लेकिन भगवन्नामका जप भगवान्‌का साक्षात् स्पर्श है, यह बात आपके ध्यानमें रहनी चाहिए, तभी आप ठीक नाम जप कर रहे हो।

आप जानते हो कि जब बात उत्तम नहीं हो पाती, तब मध्यम या कनिष्ठ स्थितिपर उतरना पड़ता है। उत्तम स्थिति है भगवन्नाम लेते समय भगवान्‌के स्पर्शका अनुभव करना। यह जब सम्भव नहीं होता, तब अधिक-से-अधिक नाम जपकी बातकी जाती है; क्योंकि तब भी इतना तो स्मरण रहता ही है कि भगवान्‌का नाम लिया जा रहा है।

निकृष्ट स्थिति है किसी भी बहानेसे भगवान्‌का नाम जीभपर आवे। जैसे अजामिलने अपने पुत्र नारायणको पुकारा था। इस प्रकारका नामोच्चारण भी अन्ततः कल्याण करनेवाला है ही।

भाय कुभाय अनख आलस हू।
नाम जपत मंगल दिसि दसहू॥

अब यदि आप रूपके आग्रहको छोड़ दो तो सरलतासे नामके माध्यमसे परमात्माका साक्षात्स्पर्श बराबर पाते रह सकते हो।

रूपके आग्रहके बिना स्पर्श प्राप्त होता है और वह तनिक भी कम नहीं होता। जन्मान्ध व्यक्ति सपरिवार भी आपने देखे ही होंगे। उन्हें पत्नी, पुत्रकी समीप उपस्थित बिना स्पर्श किये भी सुख देती है या नहीं ? कैसे देती है ? उनकी समीपताका अनुभव और उनके शब्दके द्वारा भगवान् हमारे पास ही हैं, वे सर्वव्यापक हमारे चारों ओर, ऊपर-नीचे सर्वत्र हैं और शब्दके रूपमें उनका नाम हमारे पास है। तब उनका बराबर स्पर्श केवल अनुभव करना है।

जो गूंगे-बहरे हैं, वे नामोच्चारण नहीं कर सकते। नाम जप उनका साधन नहीं हो सकता, किंतु उनका भावनात्मक स्मरण साधारण व्यक्तिसे वहुत अधिक सबल और सक्रिय होता है। जैसे जन्माध व्यक्तिकी सुनने और सूंघनेकी शक्ति बढ़ी होती है। अतः जिस प्रकार गूंगा व्यक्ति अपने दूसरे

सम्बन्धियोंका स्मरण करता है, अपनी शारीरिक आवश्यकतायें अनुभव करता तथा सूचित करता है, वैसे ही भगवत्स्मरण भी उसके लिए सहज होना चाहिये।

व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी।
सत चेतन धन आनंद रासी॥
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी॥

श्रुति कहती है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब ब्रह्म है। आप ब्रह्म कहो, राम कहो या शिव कहो, जगत परमात्मा ही है—यह सत्य है और यही सत्य है कि परमात्मा सच्चिदानन्द है। परमात्मामें दुःख, अज्ञान, मोह, मृत्यु या विकार न कभी थे, न कभी हो सकते।

आपका और हमारा अनुभव है और इस अनुभवका संत, शास्त्र सब समर्थन करते हैं कि संसारमें दुःख-ही-दुःख है। यह 'दुःखयोनि' है। इसमें रोग, शोक, बुढ़ापा, जन्म, मरण, अभाव आदि सदा लगे रहते हैं। यही माया है।

जीवका—मनुष्यका कहना चाहिए, कल्याण न ब्रह्म करेगा और न ईश्वर। उन्हें ही अपनी ओरसे कल्याण करना होता तो जन्म-मरणका अनादि चक्र ही क्यों चलता रहता।

वेदान्तके शब्दोंमें अविद्यनाश होता है ब्रह्माकार वृत्तिका उदय होनेपर। सीधे शब्दोंमें कहें तो मनुष्यका कल्याण न सार्वजनिक भगवान् करते और न अन्तर्यामी हृषीकेषसे ही होता। मनुष्यका कल्याण तब होता है जब वह परमात्माको अपना कुछ बना लेता है। अपना बना वह परमात्मा उसके चित्तमें अपनत्वको लेकर प्रकट होता है। तब उस परमात्माका स्पर्श अपनत्वके माध्यमसे जागता है, अनुभवमें आता है।

इसी अनुभूतिके लिए आवश्यक है निष्ठा। अर्थात् परमात्माके किसी रूपको आप अपना बनाइये। ध्यान रखिये कि परमात्मा केवल बनानेसे, माननेसे अपना हो जाता है; क्योंकि वह अपना तो पहलेसे है ही।

यह रूप निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार कुछ भी हो सकता है; क्योंकि वह सर्वरूप है। लेकिन आप उसे जैसा स्वीकार करेंगे; आपके लिए वह ठीक वैसा ही रहेगा। इस रूपको छोड़िये मत, बदलिये भी मत। अन्यथा निष्ठा ही नहीं बनेगी। बिना निष्ठाके कोई लाभ हुआ नहीं करता।

अपने लिए आप परमात्माका एक नाम चुन लीजिये। आप चुनलें या गुरु बतादें—पर नाम एक ही चुना जाना चाहिए और उसे भी जीवनमें बदला नहीं जाना चाहिए।

यह नाम ही परमात्मा है। सचमुच सर्वशक्तिमान परमात्मा यही नाम है। इस नामका जप कीजिये। ऐसे जप कीजिये जैसे प्रत्येक बार नाम लेनेके साथ आपको परमात्माका स्पर्श प्राप्त हो रहा है।

यह स्पर्श प्राप्त होनेकी आरम्भमें कल्पना ही करनी पड़ेगी, किंतु यह कल्पना सत्य है। परमात्माका स्पर्श तो आपको रात-दिन प्राप्त ही हो रहा है। केवल उस स्पर्शके अनुभवको जगाना है। नाम स्मरण इस अनुभवको धीरे-धीरे जगा देगा।

जब परमात्माके स्पर्शका अनुभव जाग जाता है, माया और मृत्यु, क्लेश और क्लान्ति सब ऐसे मिट जाते हैं, जैसे कभी थे ही नहीं। इन सबकी अनुभूति तो स्वप्नानुभूति है। जागनेपर स्वप्नके कष्टोंकी स्मृति रहे भी तो वह दुःख नहीं देती।

अतः आप नाम-जप, नाम-स्मरणमें लगो। आपको परमात्माका स्पर्श अनुभव हो। हरिः ओम्।



जय सगुण निर्गुण रूप राम—

अकल्पनीय कालसे यह विवाद चल रहा है कि परमात्मा सगुण है या निर्गुण।

जो अनीश्वरवादी हैं, उनकी बात ही छोड़ देनी चाहिये। उनमें तो वहुत अधिक आधुनिक विद्वान् ऐसे हैं, जो ईश्वरको मनुष्यकी भयजनित कल्पना मानते हैं। भले वे दर्शनशास्त्रोंका 'क-ख' भी न जानते हों। जो धर्म विश्वमें प्रचलित हैं, उनमें भी अनेक ईश्वरको स्वीकार नहीं करते। जैसे बौद्ध और जैन पुनर्जन्म तो मानते हैं, किंतु ईश्वरीय सत्ता नहीं मानते।

भारतमें उत्पन्न धर्मोंकी कुछ विशेषताएँ हैं—

१. पुनर्जन्म भारतीय धर्म ही मानते हैं।

२. भारतमें ही अवतारवाद माना जाता है, भले कुछ सम्प्रदाय इसे न मानते हों।

३. जड़तत्त्ववादी और अनीश्वरवादियोंको छोड़ दें तो भारतमें केवल आर्यसमाज अपवाद है इसका कि वह ईश्वर सगुण-निराकार मानता है। अन्यथा जो ईश्वर माननेवाले भारतीय (भारतमें उत्पन्न) धर्म हैं, वे परम-तत्त्वको सगुण मानते हैं तो साकार भी मानते हैं; अन्यथा निराकार मानते हैं तो निर्गुण भी मानते हैं।

४. भारतसे बाहर जो धर्म उत्पन्न हुए, उनमें न पुनर्जन्म माना जाता, न अवतार और न निर्गुणतत्त्व। वे ईश्वरको सगुण-निराकार मानते हैं, अतः प्रार्थनामें ही विश्वास करते हैं। जो पुनर्जन्म नहीं मानते, उनके यहाँ कर्मफल, प्रारब्ध आदि कुछ माना नहीं जा सकता।

आर्यसमाज केवल इस अर्थमें भारतसे वाहर उत्पन्न धर्मों (सम्प्रदायों) से भिन्न है कि वह पुनर्जन्म, कर्मफल तथा वेदोंको प्रमाण मानता है।

भारतीय दर्शनका तर्क है कि जो सगुण है, जिसमें कृपा वात्सल्यादि गुण हैं, भले वह अन्तःकरणवाला न हो, किंतु साकार हो सकता है। उसका अवतार नहीं ही होगा, यह कहना नहीं बनता।

क्लेशकर्मबिपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषईश्वरः ।

—योगदर्शन १।२४

अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं। मनुष्यको कर्मविपाक (कर्मफल) प्राप्त होता है और इसलिये प्राप्त होता है; क्योंकि मनुष्यके अन्तःकरण है। उसी अन्तःकरणमें सब क्लेश एवं कर्म-संस्कार रहते हैं। ईश्वरमें पाँचों क्लेश नहीं हैं। कर्मफल उसे नहीं होता। अन्तःकरण उसमें नहीं है।

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।' —योगदर्शन १।२५

'अन्तःकरण न होनेपर भी ईश्वर ही निरतिशय सम्पूर्ण सर्वज्ञ है।'

अब जो लोग ब्रह्मको निर्गुण मानते हैं, वे भी संसारको तो देखते ही हैं। इस संसारको वे माया कहें, स्वप्न कहें, या भ्रम कहें; किंतु इसका अस्तित्व एवं व्यवहार तो वे अस्वीकार कर नहीं सकते।

भले वे 'कार्य-कारणभाव' को मिथ्या कहें, किंतु संसारमें—व्यवहारमें एक व्यवस्था है, इसे कोई कैसे अस्वीकार करेगा ? ऐसे परम ज्ञानियोंको भी रोगी होनेपर चिकित्सककी शरण लेते देखा जाता है। कार्य-कारणभाव मिथ्या ही हो तो औषधिसे रोग दूर करनेका प्रयत्न क्यों ?

ब्रह्म निर्गुण है तो निष्प्रयोजन है। उससे न किसीका प्रयोजन पूरा होता, न उसे किसीसे प्रयोजन है, क्योंकि उसमें दूसरी सत्ता ही नहीं है।

इसके साथ यह भी ध्यान देनेयोग्य बात है कि कोयले या काले कपड़ेको कितना भी धोवें तो वह सफेद नहीं होगा। यदि जीव स्वरूपसे निर्विकार नहीं है तो वह कभी पूर्णतः निर्विकार हो ही नहीं सकता। निर्विकार स्थिति ही तो निरञ्जन, निर्गुण है। सब शास्त्र, संत, साधन निर्विकार होनेकी ही प्रेरणा देते हैं। अतः स्वरूप निर्गुण है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

दूसरी ओर ईश्वर सगुण है, यह स्पष्ट सत्य भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। नियम है कि शब्दार्थ-ज्ञान परम्परासे ही प्राप्त होता है। ईश्वर सगुण न हो तो वेदकी संगति ही नहीं बैठेगी। ईश्वर सगुण न हो तो सृष्टिमें जो व्यवस्था है, वह कौन करता है? प्रार्थनाके चमत्कार, कृपाका अनुभव किसीको भी कैसे होंगे, यदि ईश्वर सगुण न हो। ईश्वर सगुण न हो तो दुर्बल, दीन, असमर्थके लिए कोई आशा ही कहाँ है।

अब प्रमाणकी बात। श्रीरामचरितमानस तो श्रीरामको सगुण-निर्गुण उभयरूप मानता है। 'सोइ दशरथसुत' और वे 'राम अतर्क्य बुद्धिमन बानी।' हैं। वे श्रीराम केवल सगुण-साकार ही नहीं—

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एकते एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
(रा० च० मा० १।११६।५-६)

वह अवधपति है, अतः सगुण-साकार है और 'सबकर परम प्रकाशक' है, अतः निर्गुण-निराकार है।

श्रीमद्भागवत भी मानसके समान ही कुछ कहता है। श्रीशुकदेवजीने कह दिया—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवद्भाति मायया॥
(१०।१४।५५)

'इन श्रीकृष्णको ही तुम अखिल प्राणियोंकी आत्मा जानो! ये तो जगत्कल्याणके लिये अपनी मायासे यहाँ शरीरधारी प्रतीत हो रहे हैं।'

श्रीमद्भागवतका कहना है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(१-२-११)

"तत्त्वज्ञानी जिसे 'तत्त्व' कहते हैं, जो अद्वितीय ज्ञान है, वही ब्रह्म (निर्गुण) परमात्मा (सर्वसंचालक) और भगवान् (सम्पूर्ण ऐश्वर्यस्वरूप) कहा जाता है ।"

इसीके साथ इसे मिला लीजिये—

'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।' (भा० १।३।२८)

'श्रीकृष्ण तो स्वयं (साक्षात्) भगवान् हैं। गीतामें श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।' (१३।२)

अब क्षेत्रज्ञ तो अन्तर्यामी ही है; क्योंकि—

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥ (गीता ८।४)

"सब नाशवान् पदार्थ 'अधिभूत' हैं और पुरुष—जीव 'अधिदेव' है। इस अधिदेवसे भिन्न यहाँ इस शरीरमें ही 'अधियज्ञ'—अन्तर्यामी स्वामी श्रीकृष्ण हैं ।"

इतने सब विवेचनसे भी कोई बात स्पष्ट नहीं हुई । केवल इतना स्पष्ट हुआ कि जो सगुण-साकार श्रीराम हैं, वेही सबके परमप्रकाशक—अन्तर्यामी भी हैं । सगुण-साकार श्रीकृष्ण ही 'क्षेत्रज्ञ' या 'अधियज्ञ' अन्तर्यामी हैं । श्रीराम या श्रीकृष्ण दो नहीं हैं, यह बात सब विचारशील जानते हैं; किंतु अन्तर्यामी तो शरीरकी अपेक्षासे है। शरीर होंगे, अन्तःकरण होगा, तब उनमें स्थित उनका कोई परमप्रकाशक अन्तर्यामी होगा। अन्तर्यामी तो निरपेक्ष सत्ता नहीं; अतः अब भी यह निश्चय नहीं हुआ कि परमात्मा—परमसत्ता निर्गुण है या सगुण ।

श्रीमद्भागवतमें इस गुत्थीको सुलझाया गया है, वहाँ कहा गया—

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः ।
यस्तत्रोऽभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ॥ (२।१०।८)

"जो आध्यात्मिक पुरुष है—परमसत्ता है, निर्गुण, निराकार, अद्वितीय परमब्रह्म है, वही ज्यों-का-त्यों आधिदैविक पुरुष—सगुण-साकार, निखिललोकमहेश्वर है। इन दोनोंको पृथक् करनेवाला, दोनोंमें पृथक्ताका भ्रम उत्पन्न करनेवाला जो है, वह 'आधिभौतिक पुरुष' है।"

आधिभौतिक पुरुष अर्थात् भौतिक जगत्, सम्पूर्ण विश्व-विराट्। व्यक्तिमें कहें तो शरीर। इस शरीरमें जबतक आसक्ति है, तबतक इस आसक्तिने ही निर्गुण और सगुणको पृथक् कर रखा है। शरीरमें आसक्ति रहते निर्गुण और सगुण एक ही तत्त्व है, यह बात समझमें नहीं आ सकती।

हम-सब परमात्माके सम्बन्धमें विचार करते समय यह भूल जाते हैं कि सब आचार्य एकमत हैं कि परमात्मा 'अवाङ्मनसगोचर' है।

'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी।' (मानस १।१२०।३)

हमारे ज्ञानका माध्यम ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। जैसे रूपका ज्ञान नेत्रोंके द्वारा होता है। हम जब 'गुलाबी रंग' कहते हैं तो यह रंगका केवल सांकेतिक वर्णन है। रंग वाणीका विषय नहीं है। इसलिये कोई जन्मान्ध अथवा ध्रुवप्रदेश या मरुस्थलका ऐसा निवासी जिसने गुलाबका पुष्प या वह रंग न देखा हो, हमारे 'गुलाबी रंग' कहनेसे कुछ नहीं समझ पाता। यही बात गन्ध, रस, स्पर्शके विषयमें भी है। परमात्मा किसी इन्द्रियका विषय न होनेसे उसका जो कोई भी वर्णन करेगा—शास्त्र करे या संत करें, वर्णन सांकेतिक ही होगा।

सांकेतिक वर्णनको वे लोग सरलतासे समझ लेते हैं, जो उस संकेतको समझते हैं। जैसे आपको गुलाबी रंग समझनेमें कोई कठिनाई नहीं है, लेकिन एक जन्मान्धके लिए तो यह शब्द अनबूझ पहेली है।

इसी प्रकार परमात्माके सम्बन्धके वर्णनको वे तो भली प्रकार समझते हैं, जिन्हें उसका अनुभव प्राप्त हो गया है; किंतु वे भी, जिनको वह अनुभव प्राप्त नहीं है, उन्हें ठीक समझा नहीं पाते। वे भी सांकेतिक वर्णन करनेको विवश हैं।

परमात्माका अनुभव कैसे प्राप्त हो, इसीको समझानेके लिए श्रीमद्-भागवतने कहा कि आधिभौतिक पुरुष अर्थात् शरीरकी आसक्ति ही अध्यात्म पुरुष और अधिदैव पुरुषको पृथक् किये है।

'जो रहित सगुन सोइ कैसे।' (रा० च० मा० १।००५।३)

अब इसका जो उत्तर है, वह सांकेतिक है—

'जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे ॥'

जलसे ओला पृथक् नहीं है; किंतु ओला या बर्फ तो जलका विकार है और परमात्मा निर्विकार है। यह उलझन इसलिये उठी कि हम फिर बुद्धिसे परमात्माको समझने बैठ गये।

एक साधारण नियम है कि कोई किसी भी तर्कसे अपने पिताको नहीं जान सकता। इस विषयमें मातापर ही श्रद्धा करनी पड़ती है। आप क्या सोचते हैं कि परमात्मा बुद्धिका पिता है या पुत्र ? बुद्धि अपने कारणको कैसे पकड़ सकेगी ?

परमात्माका अनुभव होता है। जैसे आपके सामने कोई पर्दा है तो प्रर्देके पीछेकी वस्तु पर्देको हटाये बिना दीख नहीं पड़ती। ऐसे ही देहासक्ति–यदि शास्त्रीय भाषामें कहें तो परिच्छिन्नताका अहंकार, व्यक्तित्व-बोध ही वह पर्दा है, जो सगुण और निर्गुणको पृथक् दिखला रहा है। यह पर्दा हटाये बिना वास्तविकता समझमें नहीं आ सकती।

मूलतत्त्व जब अवाङ्मनसगोचर है, तब उसके सांकेतिक वर्णनका केवल इतना अभिप्राय रह जाता है कि उन संकेतोंके अनुसार चलकर हम उस तथ्यका अनुभव प्राप्त कर सकें।

श्रीश्रीआनन्दमयी माँका इस सम्बन्धमें जो उत्तर है वह बहुत महत्वपूर्ण है। वे कहती हैं—'पिताजी ! आप जहाँ बैठे हो वहाँसे ऐसा ही दीखता है।'

मनुष्यकी इन्द्रियोंमें, मनमें, बुद्धिमें भी समग्रको देख लेने—अनुभव कर लेनेकी शक्ति नहीं है। इसलिये वह उसे अपने दृष्टिकोणसे, अपनी समझसे ही जान पाता है। समग्रका अनुभव उससे एक होकर—अपने व्यक्तित्वको मिटाकर ही किया जा सकता है।

इसलिये यह विवाद ही व्यर्थ है कि परमात्मा निर्गुण है या सगुण। वह तो निर्गुण भी है और सगुण भी है; किंतु आपको उसका जो रूप प्रिय हो, जिसको अपनाकर आप देहासक्तिके महाग्राहसे छूट सकते हों, उसे अपनाना आपके लिए हितकर है। उसे अपनानेका पूरा प्रयत्न करें। उसका अनुभव होनेपर यह विवाद स्वतः समाप्त हो जायगा। तब स्पष्ट हो जायगा—

'जय सगुन निरगुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।'

(मानस ७।१२।१।१ छंद)



चिन्तन-सरणि–

१. हमारा-आपका जीवन सगुण है।

२. हमारा 'मैं' अपरिवर्तित है, निर्गुण है।

३. इतिहास भी प्रमाण होता है। उपमानको प्रमाण न्याय मानता ही है। निर्गुण ब्रह्मवादके मूलाचार्य श्रीगौड़पादके गुरु श्रीशुकदेवजी कहे जाते हैं। आद्य शंकराचार्यके अनेक स्तोत्र हैं। सभी शंकराचार्यपीठोंपर मन्दिर और श्रीयन्त्र हैं।

४. अद्वितीय तत्त्वमें विकार सम्भव नहीं। वही सर्वत्र ठसाठस है तो निर्विकार, निर्गुण ही होगा।

५. ऐसा कोई प्रसिद्ध महापुरुष नहीं, जिसके जीवनमें चमत्कार न रहे हों। अधिकांश सामान्य व्यक्तियोंको भी कठिन विपत्तिमें अदृश्य शक्तिकी सहायता मिलनेका अनुभव है।

६. जो दृश्य व्यवहार जगत है, सगुण है और उसका नियन्ता या संचालक जो भी शक्ति होगी, निर्गुण नहीं हो सकती।

७. तत्त्व निर्गुण है, यह कहनेका ही अर्थ है कि वह व्यवहारसे परे है। उसमें व्यवहार नहीं है।

इन सब बातोंको लेकर सोचें तो परमतत्त्व सगुण-निर्गुण, उभयात्मक ही सिद्ध होगा। श्रुति-शास्त्रमें तो दोनों वर्णन हैं।

जीवन और मृत्यु—

आप अपने सम्बन्धमें विचार करके देखें कि आपकी अपनी सत्ता क्या है ? वह है और अपरिवर्तनधर्मा है, अर्थात् निर्विकार है, इसमें तो कोई संदेह नहीं है—क्योंकि किसीको अपने होनेमें संदेह नहीं होता और अपने 'मैं' में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता दीखता; किंतु यह 'मैं' क्या है ?

शरीरकी बात छोड़ दी जानी चाहिये। शरीर तो माताके पेटसे बहुत छोटा उत्पन्न हुआ। बाहरके ही आहारपर पलता-बढ़ता है। रोग होनेपर हल्का हो जाता है। अनेक बार शरीरके अङ्ग कट जाते हैं। अब तो चिकित्सा-विज्ञान दिलतक बदल देता है और तब भी जीवन बना रहता है।

अभी विवाद है वैज्ञानिकोंमें कि मनुष्यको जीवित कबतक कहा जाय ? क्योंकि ऐसे रोगी मिले हैं, जो बहुत समयसे मूर्छित हैं। उनके होशमें आनेकी कोई सम्भावना नहीं अर्थात् मस्तिष्क सर्वथा निष्क्रिय हो चुका, किंतु कृत्रिम उपायोंसे उनका दिल धड़कता बनाये रखा गया है और श्वास चल रही है। दिल तो बदला जा सकता है, अतः उसका धड़कते रहना जीवन नहीं कहा जा सकता।

जीवनकी खोजमें जानेपर स्थूल दृष्टिसे—वैज्ञानिक उपायोंसे पीछेकी ओर लौटना पड़ता है। माताके गर्भमें इस शरीरका शिलान्यास हुआ। पिताका एक शुक्राणु माताके डिम्बसे मिला। विज्ञान इसके पीछे जो विश्लेषण करता है, वह अभी अधूरा है। अतः क्रोमोसोम, जीन्स और अमोनो एसिडके कणोंकी चर्चा आकारण होगी।

भारतीय पुराणेतहास कहते हैं कि अनेक बार स्त्री-पुरुषके मिलनके बिना भी संतान होती है। संतानका बीज पुरुषके शुक्रमें ही है। स्त्रीका तत्त्व केवल उसके विकसित करनेमें सहायक होता है। इसीलिये स्त्रीको 'क्षेत्र' कहा गया है। अब विज्ञान भी मानने लगा है कि पुरुष-शुक्राणुको डिम्बाण्ड बननेके लिए बहुत अल्पकालके लिए स्त्रीके गर्भाशयके तत्त्वोंकी

सहायता अपेक्षित है। उसके पश्चात् उसे प्रयोग नलिकामें भी विकसित किया जा सकता है।

इस खोजसे भी कोई परिणाम नहीं निकला। बात फिर वही आपके शरीरतक घूमकर आ गयी। यह इसलिये कि आप देख ही रहे हैं, आपका 'मैं' किसी यन्त्रकी पकड़में नहीं आता। वह चेतन है और चेतनको जड़के द्वारा नहीं जाना जा सकता।

भारतीय पद्धति है कि 'नेति-नेति' के मार्गसे चिन्तन किया जाय। जो आपको 'मैं' से पृथक् लगे, उसे अस्वीकृत करते जाइये। अंत में निर्मल, निष्कम्प, निर्विकार 'मैं' बच रहेगा। वह योगकी समाधिवाली स्थिति होगी। वहाँ शुद्ध 'मैं' के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। वृत्तिका पूर्ण निरोध हो जायगा।

भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शनमें यह मौलिक अन्तर है कि भारतीय दर्शन चेतनको निर्विकार मानता है। जड़की परिभाषा ही करता है विकारवान्, दृश्य लेकिन पाश्चात्य दर्शन सेन्द्रियको चेतन मानता है। जब कि इन्द्रियवान् विकारी ही होगा। वैसे अब पाश्चात्य दर्शनको कठिनाई होने लगी है यह कहनेमें कि सेन्द्रिय तत्त्व तथा निरीन्द्रिय तत्त्वकी सीमा क्या है ? क्योंकि अब सब वनस्पति जगत्को विज्ञानने भी चेतन स्वीकार कर लिया है।

कठिनाई उत्पन्न हुई आइन्स्टीनकी खोजोंसे जब यह पता लगा कि परमाणुके भीतर जो एलक्ट्रॉन होते हैं, उनमेंसे कोई भी कभी विस्फुटित हो जा सकता है और कोई एलक्ट्रॉन कभी भी अपनी गतिकी दिशा उलट दे सकता है। 'आइन्स्टीन और ब्रह्माण्ड' नामकी पुस्तकमें स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि यदि असंख्य परमाणुओंसे व्यवहार न पड़ता हो तो किसी एक परमाणुके कणोंके विषयमें विज्ञान कुछ नहीं जानता।

श्रुति परमात्माके सम्बन्धमें कहती है—**'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** (श्वेताश्वतर उप० ३।२०)

वह अणुसे भी अणु–सूक्ष्म और महानोंसे भी महान् है। अब विज्ञान एक अणुके भीतर भी पूरा विश्व देखता है और उसका भी संचालन ऐसा है, जैसे कोई अज्ञात शक्ति उसे चला रही है।

वह संचालिका शक्ति प्रत्येक परमाणुमें व्याप्त है। वही चेतन है और वह शाश्वत है। इस प्रकार चेतन अनन्त है, शाश्वत है।

चेतन ही जीवन है। अतः जीवनका न आदि है और न अन्त है। यह आदि-अन्त तो जड़ पदार्थोंकी भाँति शरीरका होता है।

शरीरको उत्पन्न होते और मरते देखा ही जाता है। अतः हिंदूमात्र शारीरिक जीवनको ही जीवन नहीं मानता। शारीरिक जीवन तो अनन्त जीवनमें एक क्षणिक घटनाके समान है। जब आप इससे अधिक महत्त्व इसे दे देते हो तो शरीरमें, शरीरके नाममें आसक्ति हो जाती है। तभी मृत्यु भयानक लगने लगती है।

विश्वमें केवल हिंदू सनातन धर्मने कुछ तथ्य स्वीकार किये हैं—

१. पुनर्जन्मका सिद्धान्त। अब अनेक देशोंके विश्वविद्यालयोंमें परा-मनोविज्ञानका भी विभाग स्थापित हो गया है और उसमें पुनर्जन्मकी स्मृति रखनेवालोंका अध्ययन होता है। एकाधिक जन्मोंकी स्मृति रखनेवाले भी मिले हैं। ऐसे भी मिले हैं, जिन्हें स्मरण है कि वे पहले मनुष्य थे, फिर पशु हुए अमुक जातिके और अब मनुष्य हैं। इन खोजोंसे सनातन धर्मके पुनर्जन्मके सिद्धान्तोंका पूर्णतः समर्थन हो गया है।

२. वर्णव्यवस्था—यद्यपि अब इसकी दशा ऐसी है कि न रहने-जैसी कहा जा सकता है; किंतु सभी समाजोंमें शिक्षक, सैनिक, व्यापारी और सेवकवर्ग सदा रहे हैं, रहेंगे। अब समाजशास्त्री यह कहने लगे हैं—'पिता-माता जो व्यवसाय करते हैं, उनकी संतानके लिए उस व्यापारमें निपुण होना सुगम होता है। उससे भिन्न व्यवसायमें उनके लगनेपर समाजके समय और धनका बहुत अपव्यय हो रहा है।'

३. सनातन हिंदू समाज अधिदेववाद मानता है। प्रत्येक वस्तुका एक अधिदेवता है और वह अनुकूल व्यवहारसे प्रसन्न तथा प्रतिकूल व्यवहारसे अप्रसन्न होता है। उसकी अनुकूलता-प्रतिकूलताका प्रभाव उस वस्तुके प्रयोक्तापर पड़ता है।

यद्यपि इस तथ्यसे वर्तमान समाज बहुत दूर हो गया है, किंतु अब पश्चिमी देशोंमें, दक्षिण अमेरिकामें भी नागफनीकी पूजा, उसके देवताकी चर्चा चल पड़ी है।

४. अवतारवाद सनातन धर्मकी बड़ी विशेषता है। हिंदू धर्मकी ही विशेषता है कि वह सर्वेश्वर सर्वसंचालकका साधारणीकरण कर लेता है। उस सर्वेश्वरका भी अपने मध्य आना मानता है और उसे अपने माता-पिता, स्वामी, सखा ही नहीं, पुत्र रूपमें भी पाया जा सकता है, यह स्वीकार करके उसे सर्वसुलभ बना देता है।

५. मूर्तिपूजा सनातन धर्मकी ऐसी विशेषता है कि जिन धर्मोंने बड़े आडम्बरसे उसका खण्डन किया, वे भी घुमाकर नाक पकड़ने लगे। उनके यहाँ भी मजार, क्रास आदिकी पूजा चल पड़ी। वस्तुतः प्रतीक-पूजा तो मनुष्यके स्वभावमें है। आप 'ममी' की पूजा करो या झण्डेकी, है प्रतीक-पूजा ही।

पूजाका नियम ही है कि वह चेतनकी सम्भव नहीं। जड़के माध्यमसे ही चेतनको सत्कृत किया जा सकता है। आप स्वयं अपने जड़ शरीरके माध्यमसे अपनेको संतुष्ट बनाते हो या आपको अपना चेतन सत्कार करनेके लिए कभी मिला है?

सनातन हिंदू धर्मकी मुख्य विशेषताओंकी चर्चा यहाँ इसलिये की गयी, जिससे जीवन कितना अनन्त है, व्यापक है, यह समझा जा सके। साथ ही शारीरिक जीवनकी अल्पता तथा उपयोगिता समझमें आवे।

यह शारीरिक जीवन बहुत अल्प तो है, किंतु बहुत महत्वपूर्ण है। आप क्या गणना कर सकते हो कि इस पृथ्वीपर कितने प्राणी हैं? एक छोटे स्थानमें ही असंख्य जीव हैं और बात इन चलने-हिलनेवाले जीवोंतक ही नहीं है। तृण, क्षुप, वीरुध, लता, वृक्ष एवं पाषाण भी जीव हैं। इन जीवोंकी संख्या कोई सोच सकता है? यह तो हमारी एक पृथ्वीकी बात है। आकाशगङ्गामें हमारा सूर्य ही अरबों सूर्योंमें सबसे छोटा है। आकाश-गङ्गाओंकी संख्या भी अनन्त है।

ये कल्पनातीत जीव और ये सब कभी मनुष्य थे। एकमात्र मनुष्य कर्मयोनिका प्राणी है। मनुष्य ही अपने कर्मके फल भोगने इन अनन्त-अनन्त योनियोंमें जन्म लेता रहता है। अतः मनुष्य होकर इस जीवनको ऐन्द्रियक भोगोंमें ही व्यतीत कर देना कितनी बड़ी मूर्खता है, यह अनुमान करना चाहिये।

मनुष्य जीवन प्रकृतिके क्षेत्रमें अत्यन्त दुर्लभ स्थान है। इसी जीवनके कार्य निश्चित करते हैं कि मनुष्य मरणोपरान्त मुक्त हो जायगा, पुनः जन्म लेकर साधनोन्मुख बना रहेगा या जड़, वृक्षादि, कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि किसी योनिमें जन्म लेगा। अतः मनुष्यको अपनी महत्ता समझनी चाहिये।

मनुष्य होनेपर भी जीवन कितना मिला है, यह किसीको पता नहीं होता। अनेक गर्भमें ही मर जाते हैं। शैशव एवं बालकपनमें कमकी मृत्यु नहीं होती। यह कोई नियम नहीं है कि युवा पीछे मरेंगे और वृद्ध पहले।

सृष्टिकर्ताका विधान विचित्र और रहस्योंसे भरा है। अनेक जीव बेचारे मनुष्य-शरीरतक किसी प्रकार पहुँचकर भी मनुष्य नहीं हो पाते। पुरुषके एकबारके उत्सर्गमें उसके वीर्यमें सहस्रों शुक्राणु होते हैं। सबमें मनुष्य होनेकी शक्ति होती है, किंतु एक मनुष्य कितनी संतान उत्पन्न करके बचा पाता है? एक मनुष्यके ही जीवनमें उसके शरीरमें शुक्राणुओंतक जो जीव पहुँचकर भी मनुष्य नहीं हो पाते, फिर लौट जाते हैं जड़त्वकी ओर उनकी संख्याका कोई अनुमान आपको है?

जैसे एक वृक्षके जीवनमें असंख्य बीज बनते हैं—पीपल, बरगद, उदुम्बर आदिके बीजोंकी तो गणना ही सम्भव नहीं, ताड़के वृक्षमें भी उसके जीवनमें सहस्राधिक फल आ जाते हैं; किंतु कितने कम बीजोंको उगनेका अवसर मिलता है? उगकर भी अधिकांश वृक्ष नहीं बन पाते। मनुष्य तो वट-पीपलके समान सूक्ष्म एवं असंख्य बीज रखनेवाला प्राणी है।

जीवन जहाँ अनन्त है, वहीं बहुत अनिश्चित और अल्प है मनुष्यका जीवन और बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें कम-से-कम इतना अवश्य कर लेना चाहिये—कर लिया जा सकता है,यह आपके अगले जीवनमें भी साधनोन्मुख मनुष्य-जीवन ही प्राप्त हो। इससे जन्म-मरणका चक्र अन्ततः समाप्त हो जायगा। यह चक्र यदि इसी जीवनमें समाप्त हो सके, तब तो सबसे उत्तम स्थिति है।

मृत्यु—

मनुष्य-जीवनमें प्रमाद न करे तो मृत्यु उससे कुछ भी छीनती नहीं है। उलटे वह बहुत अधिक सहायता करती है।

जहाँतक शरीरकी बात है, मृत्यु एक स्वाभाविक घटना है जीवनके अखण्ड क्रमकी। श्रीवसुदेवजीने कंससे कहा था—

'मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।'

(भागवत १०।१।३८)

यह तो सर्वमान्य तथ्य है। कोई मशीन या भवन अथवा दूसरा कोई निर्माण होता है तो निर्माण पूरा होते ही कुशल इंजीनियर उसकी आयु निश्चित कर देते हैं। यह उसी समय निर्णीत हो जाता है कि वह कितने समयतक बिना आशङ्काके उपयोगमें आवेगी।

इसी प्रकार जो भी उत्पन्न होता है, उसकी उत्पत्तिके साथ उसकी मृत्यु उत्पन्न हो जाती है। वह उसी समयसे क्षण-क्षण क्षीण होने लगता है।

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।'

(योगदर्शन २।१३)

यदि कर्म-संस्कार बचे हैं तो इस मूलसे जीवका प्रारब्ध बनता है। प्रारब्धमें तीन बातें निश्चित होती हैं—१. वह किस जातिमें जन्म लेगा। २. कितनी आयु प्राप्त करेगा। ३. सुख-दुःख, यश-अयश आदि कौन-कौनसे भोग उसे कब-कब मिलेंगे।

आपका शारीरिक जीवन कैसा है, यह आपने कभी सोचा है? सिनेमाके पर्देपर एक मनुष्य दीख रहा है। यदि फिल्मकी रील चलायी न जाय, स्थिर रखी जाय तो वह वैसा ही दीखता रहेगा स्थिर। वह तो रील

चल रही है, फिल्में बराबर सरक रही हैं, इसलिये वह चलता-फिरता, बोलता-गाता दीख रहा है। आपके शरीरकी भी दशा इससे भिन्न नहीं है।

मान लीजिये कि फिल्म स्थिर कर दी गयी, तब भी जो मनुष्य पर्दे पर दीखता है, वह दीखता ही स्थिर है। वस्तुतः प्रकाशकी किरणोंका ताँता लगा है, इसलिये वह स्थिर दीखता है। प्रकाशकी किरणें रुकें तो वह लुप्त हो जायगा।

हमारा-आपका यह शरीर और पूरा संसार परमाणु-प्रवाहमें ऐसे ही बना है। अरबों-खरबों परमाणुओंकी धारामें शरीरका आकार दीख रहा है और उस प्रवाहमें ही क्रियाशील है। आज इसी क्षण आपके शरीरमें कितने लाख कण मर रहे हैं और कितने लाख कण उत्पन्न हो रहे हैं, इसका आपको अनुमान भी नहीं है।

शिशु उत्पन्न होता है और बढ़ता है। आपको आपके ही शैशवका चित्र दिखलाया जाय तो आप पहचान नहीं सकेंगे, यदि आपने उसे बीचमें देखा नहीं है। युवा शरीर वार्धक्यमें कैसा हो जाता है आप जानते हैं।

आज आपके शरीरमें जो-कुछ है, उसमेंसे कुछ भी—कोई कण भी तीन-साढ़े-तीन वर्ष पश्चात् बचा नहीं रहता। सब नवीन बन चुका होता है। अतः शरीर तो बराबर बदल ही रहा है। मृत्यु भी तो शरीर ही बदलती है। इसीलिये गीताने मृत्युको जीर्णवस्त्र बदलनेकी घटना कहा है।

लेकिन जीर्णवस्त्र बदलनेकी घटना बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। आपके फटे कुर्तेके स्थानपर उससे भी फटा-चिथड़ा पहननेको मिले तो? उत्तम वस्त्र भी मिल सकता है। इसलिये वस्त्र बदलनेकी घटनाका महत्त्व कम नहीं है। मृत्यु शरीररूपी वस्त्र त्याग करा देती है नवीन देह देनेके लिए। वस्त्र-परिवर्तनके समान देह-परिवर्तन सहज स्वाभाविक है।

एक संतके वचन हैं—'ईश्वरके विधानमें तो तुम क्रिया-प्रतिक्रिया स्पष्ट देख रहे हो। तुम जो जगत्को, दूसरोंको देते हो, वही तुम्हारे लिए लौटता है।'

एक और संतने कहा—'तुम ईश्वरके साथ बीमा क्यों नहीं कर लेते पुनः मनुष्य होनेका ? जो विश्वको देते हो, वही जब तुम्हें फिर मिलता है तो विद्यादान करो ! अब ईश्वरको तुम्हें विद्या देनी होगी तो मनुष्य बनाये बिना उसके पास भी कोई उपाय है ? विद्या गाय, गधा, शेर या चिड़िया पढ़ेगी ?'

इस प्रकार आपके हाथमें है पुनः मनुष्य होना। गीतामें श्रीकृष्णने आश्वासन दिया—

'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।' (९।३१

'नहि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।' (६।४०)

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।' (६।४४)

पुनर्जन्मकी प्रक्रिया विस्तारसे तो 'कर्म-रहस्य' में समझायी गयी है, किंतु यहाँ इतना कहना है कि यदि आप इस जीवनमें साधन-भजनमें लगते हैं तो इतना सुनिश्चित हो जाता है कि आपको यदि किसी दुर्भाग्यसे तत्काल मनुष्ययोनि न भी मिली, जैसा कि राजा भरतके साथ हुआ था कि वे मृगमें आसक्त होनेसे मृग बने, तो भी यह मनुष्येतर जन्म एकाध ही होंगे और आप शीघ्र पुनः मनुष्यजन्म पा जायँगे अपने साधनको आगे बढ़ानेके लिए।

ऐसी अवस्थामें मृत्यु वरदान मानी जानी चाहिये। वह बहुत बड़े सहायकका कार्य करती है। अनेक प्रकारकी अनुकूलता उत्पन्न कर देती है।

सबसे सीधी और स्पष्ट बात जो आप तुरंत समझ सकते हैं, वह यह कि मृत्यु जराजीर्ण असमर्थ, रोगग्रस्त शरीर छुड़ाकर नवीन शरीर दे देती है। इस शरीरमें जो असाध्य रोग थे, वे भी शरीरके साथ बिदा हो गये। नवीन शरीरमें उनसे संघर्ष करनेकी समस्या नहीं रही।

इस शरीरमें जो परिस्थिति प्राप्त थी, वह सर्वथा छूट गयी। यहाँका संग्रह-परिग्रह, मोह-ममता सब चली गयी।

यह ठीक है कि मन, बुद्धि, चित्त और इनके संस्कार साथ हो जाते हैं; किंतु बहुत-से अभ्यास शारीरिक होते हैं। इस शरीर तथा मस्तिष्कके घूटनेके साथ वे छूट जाते हैं। जैसे नशा-सेवनका अभ्यास जन्मान्तरमें नहीं जायगा, यह अभ्यास वर्तमान शरीर एवं मस्तिष्कतक ही सीमित है।

इस जीवनमें साधन-भजन, संयम आदि आपने बहुत पीछे अपनाये। जीवनमें पहले बहुत कुछ असंयम रहा और अनेक सम्बन्ध, ममता, आसक्ति जुड़ी। अब साधन-भजनमें लगनेपर भी उनमें-से बहुत-कुछ आप चाहते हुए भी छोड़ नहीं पाते हैं। आपको अपनी यह दुर्बलता अखरती है। इस विषयमें मृत्यु बहुत अधिक सहायता देती है; क्योंकि पिछले और इस जन्मके भी अशुभ संस्कारोंका अधिकांश संचितमें चला जाता है और जो प्रारब्ध नवीन जन्म देता है, उसमें साधन-भजनके तथा इनके अनुकूल ही संस्कार अधिक होते हैं। फलतः ऐसा बालक प्रायः प्रारम्भसे सात्त्विक, संयमी और भजनमें लगनेवाला होता है।

यद्यपि यह ठीक है कि जन्म-मरणसे छुटकारेका मार्ग बहुत लम्बा है। महर्षि पतञ्जलिने कहा—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेविता दृढ़भूमिः।'

—योगदर्शन गीता १४

इस दीर्घकालकी व्याख्या गीताने कर दी—

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' (६।४५)

लेकिन इसमें निराश होने-जैसो कोई बात नहीं है। जो वस्तु जितनी महत्वपूर्ण होती है, जो स्थिति जितनी महान् होती है, उसे प्राप्त करनेके लिए उतना ही अधिक श्रम और समय लगता है। सृष्टिमें मोक्ष—आवागमनसे छुटकारा पाना सबसे महान् स्थिति है। अतः इसे प्राप्त करनेके लिए अविचल धैर्य तो अनिवार्य है ही।

अनेक जन्म लगते तो हैं और लगेंगे भी, किंतु बीच-बीचमें आनेवाली मृत्यु तो परिष्कारक है। वह किसी भी जीवनमें संग दोषसे, प्रमादसे आये

कुसंस्कारोंको संचितमें फेंकती रहती है और साधकको उत्तरोत्तर प्रगतिके सोपानोंतक पहुँचाती रहती है।

अब विज्ञानकी वर्तमान शोधोंने, जो मृत्युके सम्बन्धमें हुई हैं—एक नवीन तथ्य उद्घाटित किया है कि मृत्युमें कोई कष्ट नहीं है। उलटे शरीर छूटते ही जीव एक शान्ति, भारहीनता तथा विचित्र सुखका अनुभव करता है।

मृत्युके समयका कष्ट जो देखा-सुना जाता है, वह दो प्रकारका है—

१. रोगजन्य शारीरिक पीड़ा। यह कष्ट ऐसा है, जो उतना या उससे भी अधिक आप दूसरे अवसरोंपर रोग-चोट आदिके द्वारा सह चुके हैं। वह न नवीन है और न पहले भोगे कष्टोंसे अधिक ही।

जैसे कोई पुरानी मोटरकार एक हल्के धक्के-से टूट जाती है; किंतु पहले वह कई बार इससे कड़े धक्के सह चुकी है,इसी प्रकार मृत्युके समयकी रोगजन्य पीड़ा कोई अननुभूत और भारी नहीं होती।

२. मृत्युके समयका दूसरा कष्ट आसक्तिजन्य-मोहजन्य होता है। संसारके सब लोग और सब पदार्थ सदाको छूटते तो हैं ही। इनमें जिसकी जितनी आसक्ति, ममता, मोह है, उसे उतनी अधिक व्यथा होती है।

यह मनुष्यका भ्रम ही है कि कोई अमुक उसके बिना रह नहीं सकता। जो नारियाँ सती हो जाती हैं, उन्हें भी उस आवेशके समय दस-पाँच दिन बचा लिया जा सके तो पीछे उनका भी जीवन सामान्य चलने लगेगा। माता-पिताके मरनेपर अनाथ अबोध शिशु भी बचते-पलते हैं। सबका जो रक्षक-पालक है,वह बहुत समर्थ है।

अतः मृत्यु न भयानक है, न हानिकार। उसकी चिन्ता इतनी ही की जानी चाहिये कि जीवनमें ही मोह-ममता तथा परिग्रहकी आसक्ति त्यागी जा सके। तब मृत्युका मित्रकी भाँति स्वागत किया जा सके।

महत्व मृत्युका नहीं है, महत्व जीवनका है; क्योंकि जीवन अनन्त है, शाश्वत है। मृत्यु तो उसके प्रवाहमें ऐसी क्षणिक घटना है, जैसे जीवनने छींक ले ली हो।



लक्ष्य-निर्णय-

आज प्रकाशन और प्रचारका युग है। सभी प्रकारका साहित्य छपता है। सभाओं तथा कथा-प्रवचनोंमें सभी प्रकारकी बातें सुननेको मिलती हैं। यह स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक प्रचारक अपनी वस्तुको ही सर्वश्रेष्ठ बतलाता है। यह भी ध्यानमें ही रखनेकी बात है कि जो प्रचारक जिस दवा या साबुन-क्रीमके गुण बड़े उच्च स्वरसे लाउडस्पीकरपर घोषित करता घूम रहा है, बहुत सम्भव है कि वह उस दवाके स्वादको भी न जानता हो अथवा उस सावुन-क्रीमका उसने स्वयं कभी उपयोग न किया हो। वह प्रचार तो इसलिये कर रहा है; क्योंकि उसे प्रचार करनेका पैसा मिलता है।

धार्मिक-आध्यात्मिक पुस्तकों तथा व्याख्यानोंकी स्थिति इस प्रचारसे कुछ अधिक अच्छी नहीं है। ये पुस्तक-लेखक, कथावाचक, व्याख्यानदाता भी बहुधा लेखन, व्याख्यानके कलाकार हैं। ये भी पढ़कर, रटकर या अपनी प्रतिभासे—प्राय: वे बातें लिखते-कहते हैं, जिनके सम्बन्धमें उन्हें कोई अनुभव नहीं। ये भी इसीलिये लिखते या बोलते हैं; क्योंकि इससे इन्हें सम्मान, सुविधा और पैसा मिलता है।

जैसे सामान्य व्यक्ति पदार्थोंके विषयमें बहुत चतुर विज्ञापनदाताओं द्वारा प्रभावित किया जाता है,ठगा जाता है, वैसे ही सामान्य व्यक्ति धार्मिक क्षेत्रमें भी प्रचारके द्वारा ठगा जाता है। देशमें भगवानों-अवतारोंकी भीड़ इसे सिद्ध करनेको पर्याप्त है।

इस-धोखे-धड़ीसे आकुल वातावरणमें ठीक मार्ग पानेके लिए बहुत सावधानी अपेक्षित है। कुछ विशेष सतर्कता रखनेवाले ही लक्ष्यकी ओर बढ़ पाते हैं। अन्यथा तो भटका देनेवाले भोले लोगोंको ढूँढ़ते ही रहते हैं। सबसे आवश्यक है कि आप स्वयं निर्णय करें कि आप चाहते क्या हैं ? यदि आप बाजार जा रहे हैं तो—

(क) आप कुछ निश्चित वस्तु लेने जा रहे हैं ?

(ख) जो वहाँ देखकर पसंद आ जाय वही लेने जा रहे हैं ?

(ग) केवल घूमने जा रहे हैं ?

आप यदि कुछ निश्चित वस्तु लेने जा रहे हैं, तब तो आपके भटकनेकी सम्भावना कम ही है। वैसे आपको भटकानेवाले फिर भी मिलेंगे। मैंने देखा है कि दूकानदारके पास जब ग्राहककी माँगी वस्तु नहीं होती या वह किसी दूसरी वस्तुके बेचनेको उत्सुक होता है तो समझानेका प्रयत्न करता है—'वह तो बेकार वस्तु है, यह दूसरी उससे अधिक अच्छा काम करती है। अथवा वह अब कहीं नहीं मिलती। यह वही काम करती है।'

यदि आप जो पसंद आ जाय, वही लेने अथवा घूमने ही निकले हैं, तब तो दूकानदारोंकी बुद्धिमानी और अवकाशपर निर्भर है कि वह आपकी जेब कितनी हल्की करा पाते हैं।

मैं साधन तथा धर्मके क्षेत्रकी ही बात कर रहा हूँ। इस क्षेत्रमें दूकानदारोंसे कम चतुर या कम कलाकार लोग नहीं हैं। यह तो क्षेत्र ही ऐसे लोगोंका है, जो बिना पूँजी, बिना घाटेके भयके अर्जन करते हैं। धन और सम्मान—दोनों कमाते हैं और खूब कमाते हैं। लोगोंकी श्रद्धाको उत्तेजित-अर्जित करनेमें ही उनका सम्पूर्ण कौशल लगा है। अतः इस क्षेत्रमें भटक जाने, ठगे जानेका भय बहुत अधिक है।

बहुत अधिक लोग इस क्षेत्रमें भी कुछ अर्जित करने नहीं आते। वे कथा-प्रवचनमें भी केवल कुछ समय काटने अथवा थोड़ा मन बहलाव करने आते हैं। ऐसे लोग कुछ थोड़ा व्यय भी करते हैं तो कोई बुरी बात नहीं है। अन्ततः आप अपना मनोरंजन करनेवाले सर्कस,सिनेमा आदिको,बाजीगरको, कलाकारको भी तो पैसा देते हो। कोई आपको भगवत्कथा सुनाकर, अच्छी बातें बताकर आजीविका चला लेता है तो यह आलोचनाका विषय नहीं हो सकता।

इसी प्रकार कथा-सत्सङ्गमें जानेका विरोध नहीं किया जा सकता। जो व्यक्ति जानता ही नहीं कि बाजारमें क्या वस्तु, कहाँ मिलती है और

उसका मूल्य लगभग क्या हो सकता है, वह किस उपयोगमें आती है, वह तो बहुत अव्यवहारिक और मूर्ख सिद्ध होगा। अतः बाजार भी जाना पड़ता है, विज्ञापन भी पढ़े जाते हैं।

परमात्मा और धर्म, दोनों अतीन्द्रिय तत्व हैं। इन्हें देखकर तब इनको पानेका प्रयत्न तो सम्भव ही नहीं है। अतः इस विषयमें तो रुचि, जिज्ञासाका जागरण भी श्रवणसे ही होना है। इसलिये सत्सङ्गका बहुत अधिक माहात्म्य है।

कथा, सत्सङ्ग और सद्ग्रन्थोंका अध्ययन अधिक-से-अधिक किया जाना चाहिये। जितना भी सुलभ हो, कोई अवसर छोड़ा नहीं जाना चाहिये।

जब कोई कन्या विवाहयोग्य होती है तो उसके अभिभावुक (अनेक देशोंमें स्वयं कन्या) योग्य पतिका अन्वेषण प्रारम्भ करते हैं। आपकी आन्तरिक रुचि जाग्रत हुई है, आप आत्मकल्याणके विषयमें सचिन्त हुए हैं तो अब अन्वेषण तो आवश्यक ही है। कथा, प्रवचन तथा उत्तम ग्रन्थोंका अध्ययन—यही अन्वेषण है। इस अन्वेषणके बिना तो काम चलता ही नहीं है।

अन्वेषण जितना व्यापक होता है, उपयुक्त पात्र मिलनेकी सम्भावना उतनी अधिक होती है; किंतु इस अन्वेषणमें भी कुछ सावधानी बहुत अपेक्षित है।

जिन समाजोंमें कन्याको अपना पति स्वयं ढूँढ़ना पड़ता है, उनमें यदि लड़की बहुत चतुर न हो और सावधानीपूर्वक उचित दूरी न बनाये रख सके तो उसे बहुत कष्ट होता है।

उसे भी बहुत कष्ट होता है, बहुत अधिक, जो अपने रूप-गुणादिकी अपेक्षा बहुत अधिक उच्चवर्गमें सम्बन्ध करनेका ही प्रयत्न करे।

आप कुछ व्यय करना चाहते हैं तो इस बातका पहले विचार करना पड़ता है कि आपकी जेबमें कितना-कुछ है ? कोई वस्तु बहुत उत्तम है, बहुत

उपयोगी है, यह तो ठीक; किंतु आप उसका मूल्य नहीं दे सकते तो आपको कम उत्तम वस्तुसे काम चलाना चाहिये।

मुझे ऐसे लोगोंका पता है, जो अपनी सुशिक्षित कन्याएँ बहुत उच्च-कोटिके लड़कोंको विवाहनेके फेरमें पड़े रहे और कन्याएँ वृद्धा हो गयीं।

साधनके क्षेत्रमें ऐसी भूल बहुत अधिक होती है। मुझसे अनेक लोगोंने पूछा—'मन कैसे एकाग्र हो?'

मैंने पूछा—'आप जप करते हैं?'

'करता हूँ।'

'कैसे करते हैं?'

मानसिक करता हूँ।'

अब उनसे क्या कहा जाय? पढ़ा है, सुना है कि मानसिक जप सर्वश्रेष्ठ होता है। पढ़ा-सुना ठीक है और अब व्यक्तिका अहंकार कहता है कि वह सर्वश्रेष्ठ ही साधन करेगा, कनिष्ठ साधन क्यों करे?

यह ऐसी ही बात है, जैसे विश्वविद्यालयका कुलपति कहे—'सबसे ऊँची कक्षा एम० ए० है, अतः मेरा पुत्र उसीमें बैठेगा। वह हीनकक्षामें क्यों जाय?'

अब उनका पुत्र अभी अक्षरज्ञान भी पा नहीं सका है। वह एम० ए० की कक्षामें भले जीवनभर बैठा करे, उसे विद्या आवेगी?

मानसिक जप होता है मनके द्वारा। मन एकाग्र होता हो तब उसके द्वारा मानसिक जप होगा। मन तो चञ्चल रहता है और आप मानसिक जप ही करेंगे तो आप इस भ्रममें जीवनभर बने रह सकते हैं कि आपसे जप हो रहा है। जप हो ही नहीं रहा तो जपका लाभ कैसे होगा।

यही अवस्था वेदान्तके अभ्यास करनेवालोंकी है और भक्तिके मार्गमें मधुर-उपासनाकी है। अद्वयतत्वका ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है और वही कैवल्यदाता है, यह बात निस्संदेह सत्य है। ऐसे ही भक्तिमें सर्वश्रेष्ठ भाव मधुर है,

आत्मनिवेदन ही अन्तिम स्थिति है, इसमें भी संदेह नहीं; किंतु इन अन्तिम सर्वश्रेष्ठ स्थितिको ही हम अपनावेंगे, यह अहंकार है। अपने अधिकारको देखकर आप चलेंगे तो क्रमशः उच्चतम स्थितितक भी पहुँच सकेंगे, किंतु सर्वश्रेष्ठको ही अपनाते चलेंगे तो सम्भव है, जीवनभर कुछ हाथ न लगे।

साधन-चतुष्टय, षट्सम्पत्तिकी बात नहीं करूँगा। अब तो वेदान्तके अभ्यासी इन्हें पढ़ अवश्य लेते हैं, किंतु इनपर ध्यान देना आवश्यक ही नहीं मानते। मुझे कहना यह है कि यदि शरीर और संसारमें कहीं आपके चित्तकी आसक्ति शेष है तो आपके चित्तका जन्म-मरण,आवागमन छूट नहीं सकता। आपका सब वेदान्त-चिन्तन, अध्ययन केवल प्रज्ञान—बौद्धिक ज्ञान बनकर रह जायगा। ब्रह्मका तो न पहले जन्म-मरण था, न आगे होना है, किंतु जिसका था, जिसकी अविद्या-निवृत्तिके लिए सम्पूर्ण मोक्षशास्त्र हैं, उसकी अविद्या-निवृत्ति हुई नहीं। अविद्या मिट जायगी तो उसके बच्चे राग-द्वेष बचे रहेंगे ? ये हैं तो अविद्या भी है, वह मिटी नहीं है, भले आपकी बौद्धिक स्थिति कुछ भी हो।

मधुररस अर्थात् अपनेमें सखीभाव-स्त्रीभाव देहाभिमानके रहते, इन्द्रियोंकी विषयासक्तिके रहते सम्भव ही नहीं है। एक ही अन्तःकरणमें अपने पुरुषत्वका भी भाव रहे और अपने स्त्रीत्वका भी भाव रहे, यह दोनों बातें सम्भव नहीं हैं। जिसमें स्त्रीके प्रति कामासक्तिका उदय होता है, भले अपनी पत्नीके प्रति ही होता हो, वह अभी मधुरभावकी छायासे भी बहुत दूर है। उसे मधुरभावके चिन्तनका अधिकार ही नहीं है।

जब अनधिकारी कोई साधन अपनाता है तो उससे उसका लाभ होनेके स्थानपर अधिक पतन होता है। उससे दूसरोंकी भी हानि सम्भव हो जाती है। जो कीचड़, गंदगीसे भरे गड्ढेमें गिरा है, वह वहीं हाथ टेककर धीरे-धीरे निकलनेकी चेष्टा करे तो अवश्य निकल आवेगा।

मैंने पढ़ा है कि जो कभी विश्वविजयी पहलवान बना, वह गामा बचपनमें बहुत दुर्बल था। सहपाठी उसे तंग करते थे। उसने बलवान् बननेका दृढ़ निश्चय किया और प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे उसका व्यायाम बढ़ता गया, शरीर दृढ़ होता गया। लेकिन कोई गामाकी नकलके

नामपर पहले दिनसे ही गामाके समान हजार या पाँच सौ दंड-बैठक करने चले तो पहलवान बनेगा या बीमार ?

जब साधन-चतुष्टय अर्थात् विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति (शम-दम, उपरति-तितिक्षा, जिज्ञासा-गुरूपसत्ति) मुमुक्षामें किसीकी भी कमी रहते वेदान्तका आलम्बन किया जाता है तो मिलता है केवल प्रज्ञान-बौद्धिक ज्ञान और प्रायः नैतिकपतन ।

इसी प्रकार जब ऐन्द्रियक भोगोंकी आसक्ति रहते मधुरभाव अपनाया जाता है तो भी विकार बढ़ते हैं, पतन होता है ।

यह लक्ष्यतक पहुँचनेके मार्गमें चलनेमें ही भटक जानेकी स्थिति है और आज तो समाजमें यह बहुत अधिक व्यापक है ।

सांकर्य—

बहुत साधारण व्यक्ति भी जानता है कि कहीं पहुँचना हो तो एक निश्चित मार्ग पकड़ना पड़ता है । बार-बार मार्ग परिवर्तित कर लेनेसे पहला श्रम व्यर्थ जाता है ।

इस मार्ग-परिवर्तनको छोड़ भी दें तो आज अधिकांश साधकों,धार्मिक जनोंको यही विवेक नहीं होता कि धर्म और मोक्ष, दो पुरुषार्थ हैं । दोनोंको एक मानकर अनेक भ्रान्तियाँ लोग पाल लेते हैं ।

अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं । समाजमें अधिकांश समुदाय काम-पुरुषार्थी होता है । उसे उपभोग चाहिये । इस उपभोगकी स्थिति एवं सामग्री पानेके लिए वह धन जुटाना चाहता है और कभी-कभी धर्म भी करता है । लेकिन वह धर्म करे या अर्थोपार्जन करे, उसका लक्ष्य भोगप्राप्ति है ।

थोड़े लोग अर्थ-पुरुषार्थी होते हैं । वे धन कमानेके लिए कमाते हैं । उनको न भोग जुटाने हैं, न धर्म प्रिय है । उनका सुख इसीमें है कि व्यय न हो, उनका संचित धन बढ़ता रहे ।

इन अर्थ और काम-पुरुषार्थियोंको छोड़ दें तो बहुत थोड़े लोग धर्म-पुरुषार्थी निकलते हैं। केवल धर्मके लिए धर्म करनेवाले तो बहुत ही कम होते हैं, मरणोपरान्त अच्छी गति हो, उत्तम लोक मिले, इस संकल्पसे धर्म करनेवाले ही अधिक मिलते हैं; किंतु हैं वे भी धर्म-पुरुषार्थी।

कुछ विशिष्ट धर्मात्मा, धर्माचार्य भी होते हैं। उनका धर्माचरण, धर्म-प्रचार लोकादर्श एवं लोककल्याणके लिए होता है। संसारके भ्रान्त लोगोंको सत्पथ दिखलाना चाहिये। दीनजनोंको रोटी, शिक्षा, चिकित्सा तथा आश्रय, वस्त्रादि मिलने चाहिये। इनके लिए जो स्वार्थरहित होकर ईमानदारीसे लगे हैं, वे भी धर्म-पुरुषार्थी हैं।

मैं यहाँ उन लोगोंकी चर्चा नहीं कर रहा, जिनका व्यवसाय नेतागिरी या उपदेश है। उनकी भी चर्चा नहीं कर रहा, जो अस्पताल, मन्दिर, विद्यालय, अनाथालय बनवाते-चलाते भी हिसाब रखते हैं कि ऐसा करनेसे उनका कितना विज्ञापन होगा और उसका कितना लाभ उन्हें मिलेगा। ऐसे लोग तो समाजमें भरे पड़े हैं। वे घोषित भगवान् हों, कोई आचार्य हों, नेता हों या सेठजी हों, हैं वे भोग-पुरुषार्थी ही। धर्मको तो उन्होंने व्यवसाय बना लिया है।

मैं यहाँ ठीक-ठीक उन लोगोंकी चर्चा कर रहा हूँ, जो दूसरोंके दुःख, दरिद्रता, पीड़ा, अशिक्षासे पीड़ित होकर उसे दूर करनेमें लगे हैं। कुष्ठ-रोगियोंकी सेवामें लगकर स्वयं कुष्ठ-ग्रस्त होनेवाले महाप्राण भी हुए ही हैं। बाढ़, अकाल, महामारीके समय जो पीड़ितोंकी सहायताके लिए दौड़ पड़ते हैं, उनमें भले बहुसंख्या स्वार्थ-साधकोंकी ही हो; किंतु कुछ सच्चे धर्मात्मा, ईमानदार, परोपकारी भी होते ही हैं।

अब जब मोक्षपुरुषार्थकी बात आती है तो प्रायः लोग धर्म-पुरुषार्थसे उसे पृथक् नहीं कर पाते, जब कि वह धर्म-पुरुषार्थसे सर्वथा पृथक् तो है ही, बहुत कुछ उलटा भी है।

अर्थ, काम और धर्म—ये तीनों पुरुषार्थ वहिर्मुख प्रवृत्तिके हैं। धर्म हो या भोग, संसारमें लगाता है। इनकी प्रवृत्ति बाहरी जगत्में है; किंतु

मोक्ष अन्तर्मुख होनेमें है। इसमें बाह्य जगत्‌को भूल ही जाना है। अतः गीतामें कहा गया—

"त्रैगुण्यविषया-वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।" (२।४५)

अर्थ और काम (भोग) ही नहीं, धर्म भी पीछे छूट जाता है—छोड़ देना पड़ता है मोक्षके पथमें। यही बात प्रायः लोगोंकी समझमें नहीं आयी।

अभी एक अच्छे सामाजिक कार्यकर्ता आये। वे गोरक्षा-आन्दोलनमें लगे थे। बहुत दुःखी थे—'सरकार तो सुनती नहीं; किंतु अब हिंदू ही धनके लोभमें पशु खरीदकर कसाइयोंको पहुँचाने लगे हैं।'

गोरक्षाका कार्य उत्तम धर्म है, इसमें तो दो मत होना नहीं चाहिये। उन्होंने यह भी बतलाया—'सर्वोदयी कार्यकर्ताको सिखलाया जाता है कि जनताजनार्दन है। उसकी सेवा भगवत्सेवा है।'

आपको सर्वोदयकी इस बातमें कोई दोष दीखता है? मुझे तो यह परम सत्य दीखता है। मैंने उनसे यही कहा और पूछा—'आप जनतारूप जनार्दनकी सेवा करने जाते हो तो उन जनार्दनको अपने आदेशपर चलाने जाते हो या केवल सेवा करने जाते हो?'

वे स्तब्ध रह गये। कुछ सोचकर बोले—'लेकिन गौको रुपयेके लोभमें कसाईको बेचना तो पाप है।'

'पाप-पुण्य आपके लिए हैं या जनार्दनके लिए?' मैंने पूछ लिया।

वे बोले—'तब करना क्या चाहिये?'

मैंने उनसे कहा—'आपको अपनी बुद्धिके अनुसार जो सत्कर्म, सदाचार, संयम और हितकर लगता है, वह समझाते रहिये। आपकी सेवा समझाना है। उसे मानना-न-मानना जनार्दनकी इच्छा। आप तो सेवामें संतुष्ट रहें।'

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' (२।४७)

गीताका यह वाक्य मैंने सुना तो दिया, किंतु लगा कि बात उनके गले नहीं उतरी।

यह जनताजनार्दनकी सेवा सचनुच भगवत्सेवा है, मोक्षप्राप्तिका साधन है। इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। निष्कामकर्म अन्तःकरणको शुद्ध करता है, किंतु जब आप अपने कर्मका अमुक परिणाम अवश्य चाहते हैं तो आप निष्काम रह जाते हैं?

मोक्षके मुख्य तीन ही साधन हैं—१. योग, २. ज्ञान, ३. भक्ति। निष्कामकर्म अन्तःकरण शुद्ध करके इनमें-से ही किसीका अधिकारी बनावेगा। अथवा सचमुच जनताजनार्दन है, यह भाव दृढ़ रहे तो जन-सेवा भक्ति ही है। अब इन तीनों साधनोंकी स्थिति देखिये—

योगका साधक एकान्त-सेवन करेगा या समाज-सेवा? योगकी साधनामें एकान्त-सेवन, अभ्यासकी नियमितता आवश्यक है या नहीं? योगके साधकका लक्ष्य मनोनिरोध है। वह दूसरोंके रोग-शोक-विपत्ति आदिको देखने-दूर करने या सोचनेमें लगेगा तो योगका साधन बनेगा?

ज्ञानकी दृष्टिसे संसार सत्य है या स्वप्न? आप लोगोंके दुःख, दरिद्रता, विपत्ति, मूर्खताको दूर करनेमें लगोगे तो उन स्थितियोंको सत्य मानकर या उन्हें स्वप्न मानकर? जब आप उन्हें सत्य मानकर उन्हें मिटानेमें लगोगे तो आपके मनमें उनका सत्यत्व दृढ़ बनेगा या धुँधला पड़ेगा?

विचार सो न गया हो तो सरलतासे समझा जा सकता है कि ज्ञानके साधकके लिए अपना श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही परम करणीय है। धर्म एवं परोपकारकी चिन्ता उसे मार्ग-विमुख ही बनाती है। संसार स्वप्नके समान है तो स्वप्नके सुख-दुःख, राग-द्वेष, धर्म-अधर्मकी चिन्ता आपको क्यों? स्वप्नमें परिवर्तनका मूल्य क्या? प्रयत्न स्वप्नमें परिवर्तनका नहीं होना चाहिये। प्रयत्न होना चाहिये जागरणका।

भक्तिका दृष्टिकोण तो और भी अद्भुत है। मैंने एक सज्जनसे पूछा—'संसारका संचालन आप करते हैं या भगवान्?'

'भगवान् !' वे दूसरा क्या उत्तर देते।

'भगवान्ने संसार आपसे पूछकर बनाया या अपनी इच्छासे बनाया ?' मैंने फिर पूछा—'इसके संचालनमें वह आपसे कभी सम्मति लेता है ?'

'मैं तुच्छ जीव किस गणनामें हूँ।' वे संकुचित हो गये।

'भगवान् कहीं दूर बैठा रहता होगा। उसे आप अपने समीपकी स्थिति सूचित करते होंगे।' मैंने फिर पूछा—'अथवा वह आजकल रोगी या दरिद्र हो गया होगा, अतः उसको सहायताकी अपेक्षा होगी। यह सब न हो तो अवश्य वह इन दिनों निष्ठुर हो गया होगा। तब तो प्रार्थनाके स्थानपर उसकी भर्त्सनाकी जानी चाहिये।'

'आप तो व्यङ्ग्य ही करने लगे।' उनके नेत्र भर आये—'ऐसी बात तो सुनना भी अपराध है। भगवान् सर्वव्यापक, सर्वज्ञ,सर्वसमर्थ, अनन्तशक्ति, लक्ष्मीनाथ, परमदयालु, मङ्गलमय, कृपासिंधु हैं।'

'यदि ऐसा है तो आपको उनकी और उनके जगत्की चिन्ता क्यों है ?' मैंने कह दिया—'वे जब, जहाँ, जिसके लिए जो, जैसा हितकर समझते हैं, वैसा ही विधान करते हैं। उनके विधानको उलटने या बदलनेकी इच्छा छोड़िये और आप अपनी चिन्ता कीजिये ! आपके भीतर भगवत्प्रेम बढ़े, केवल यह आपके सोचनेकी बात है।'

आपको मेरी बातमें कहीं दोष लगता है ?

अवश्य ही मोक्षके मार्गमें सुनिश्चित विधान काम नहीं देते। इसीलिये श्रीकृष्णने **'निस्त्रैगुण्यो भव'** कहा है।

इस मार्गमें पथिकका भाव और उसकी निष्ठा ही सर्वोपरि होती है। इस सम्बन्धमें दो उदाहरण पर्याप्त हैं—

१. माता-पिता-गुरुकी सेवा एवं आज्ञा-पालन धर्म है, यह शास्त्रका निर्विवाद आदेश है। लेकिन भरतजी और प्रह्लादने इनका पालन किया ?

२. गोपियोंने पति-पुत्र श्रीकृष्णके लिए त्याग दिये। यह पातिव्रत्यका भङ्ग स्तुत्य हुआ या नहीं ?

बैकुण्ठवासी सेठ जयदयालजी गोयन्दकाकी निष्ठा आचारमें, शुद्ध आहारमें थी। अतः भगवत्प्रसाद भी वे नहीं लेते थे यदि उसमें मिलकी चीनी, नलका पानी या अशुद्ध घी पड़ा हो।

दूसरी ओर अनेक सम्मान्य आचार्य भी श्री जगन्नाथपुरीमें एकादशीको भी भगवत्सादका भात ग्रहण करते हैं। भात तो भात है, मीराने भगवच्चरणामृत कहकर आये विषको विष जाननेके पश्चात् भी पी लिया और वह उनके लिए हानिकर नहीं हुआ।

तात्पर्य इतना ही है कि मोक्ष-पुरुषार्थका मार्ग ही ऐसा है कि इसमें केवल अपनी निष्ठापर दृढ़ रहना श्रेयस्कर है। निष्ठाके विपरीत पड़नेवाले आचारोंके लिए भक्तिसूत्र कहता है—

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता च।

—नारद भक्ति सूत्र

लौकिक ही नहीं, वैदिक भी कोई आचार निष्ठाके विपरीत पड़ता हो तो उससे उदासीन हो जाना चाहिये।



साधन—

आप क्या साधन करते हैं या आपको क्या साधन करना चाहिये, यह निर्णय या तो आपकी सहज रुचि, सहज प्रवृत्ति करेगी अथवा आपका वह गुरु जो यह जाननेमें समर्थ हो कि जन्मान्तरोंसे आप कौन-सा साधन करते आ रहे हैं।

जब **'अनेकजन्मसंसिद्धिः'** (६।४५) की बात गीतामें कह दी गयी और कह दिया गया—

'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।' (६।४४)

तब नवीनारम्भकी बात सोच-विचारकी हो जाती है। कौन पूर्व-जन्मोंसे साधना करता आ रहा है और कौन नवीन आरम्भ करेगा, यह जाने बिना जो उपदेश करता है, वह और उससे उपदेश-ग्रहण करनेवाला भी भटकाने-भटकनेकी संदिग्धावस्थामें तो हैं ही।

इसलिये साधनका निर्देश सार्वजनिक नहीं हुआ करता। यह प्रार्थना-सभा या सैनिक परेडका कार्यक्रम नहीं है कि सबको समानाचरण करना है। यह तो व्यक्तिके अधिकारके अनुरूप अन्तर्मुखताका मार्ग है। अतः यह प्रत्येक व्यक्तिका सर्वथा निजी ही होता है।

इतनेपर भी कुछ ऐसी बातें हैं, जो सब साधनोंमें समानरूपसे आधारभूत होती हैं। जैसे ध्यान, भोजन आदि कई कामोंके लिए बैठना आवश्यक है। वैसे खड़े-खड़े भोजन भी लोग कर लेते हैं, पर वह अपवाद है। ऐसे ही सब साधनोंमें कुछ बातें समानरूपसे आवश्यक हैं। उन्हींकी यहाँ चर्चा करनी है।

१. **निष्ठा**—साधन कोई हो, उसमें आपकी अपरिवर्तनीय दृढ़ निष्ठा आवश्यक है। यदि निष्ठा दृढ़ नहीं है तो आप सफलता पावेंगे, इसकी कोई सम्भावना नहीं है।

निष्ठा एकमें और अपरिवर्तनीय अनिवार्य है। एक महात्मा एक श्रद्धालु सज्जनके पूजा-गृहमें गये। पूजागृह बहुत सुसज्ज था; किंतु अधिकांश लोगोंके पूजागृहके समान उसमें बहुत-से चित्र सुसज्जित थे। महात्माने पूछा—'इन सब देवता-देवियोंकी पूजा तुम करते हो या परिवारके सब सदस्योंके आराध्य यहीं विराजते हैं ?'

उन सज्जनने तनिक खिन्न स्वरमें कहा—'परिवारमें तो और किसीको पूजा-पाठमें रुचि ही नहीं है।'

महात्माजीने उनके खेदपर ध्यान नहीं दिया। सीधे उनकी ओर देखकर पूछा—'तुम्हारी श्रद्धा कबतक कुमारिकाके रूपमें वरमाला लिए इस स्वयंवर-सभामें खड़ी रहेगी ? वह किसीके कण्ठमें जयमाला डालकर उसकी बनेगी भी या नहीं ?'

आपकी श्रद्धा यदि किसी एककी नहीं बनी है तो किसीपर उसके पोषणका दायित्व नहीं है। भय है कि वह बाजारू बन जायगी।

'सब एकके ही रूप हैं।' यह दार्शनिक उत्तर ठीक हो सकता है; किंतु कोई कन्या यह उत्तर दे—'सब पुरुष पञ्चभूतोंसे ही तो बने हैं ?' तो वह वेश्या होगी या और कुछ ?

उपासना एक रूपकी—केवल एक ही रूपकी होनी चाहिये। उसमें श्रीराम ही श्रीकृष्ण हैं या राम-शिवमें अभेद है, यह तर्क नहीं चला करता।

जैसे सुलक्षणा स्त्री घर-परिबारके सब सदस्योंका, अतिथियोंका भी सत्कार तो करती है; किंतु वह केवल पतिकी है, उसीमें दृढ़ प्रीति रखती है, इसी प्रकार अवसर-विशेषपर,तीर्थ या मन्दिर-विशेषमें वहाँके आराध्यकी पूजा-वन्दनामें दोष नहीं है; किंतु प्रीति एकमें ही होनी चाहिये।

भक्ति अव्यभिचारिणी फलप्रदा होती है। आप व्यभिचारिणी स्त्रीकी परिभाषा जानते हैं। प्रायः ऐसी स्त्री पतिसे भी तिरस्कृता होती है और दूसरा भी उसे आश्रय नहीं देता। इसी प्रकार जो लोग आराध्य या मन्त्र परिवर्तित कर लिया करते हैं, उन्हें कहीं भी आश्रय नहीं मिलता।

कन्याके विवाह पूर्व उचित वरके अन्वेषणका प्रयत्न किया जाता है। लेकिन विवाह हो जानेके बाद कन्याके लिए यह सोचना भी दोष है कि उसके पतिसे अधिक सुन्दर, अधिक गुणवान्, अधिक धनी दूसरा कोई है।

महादेव अवगुन भवन बिस्नु सकल गुनधाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन तेहि तेहि सन काम॥

(मानस १।८०।२)

भगवती पार्वतीके समान इतनी दृढ़ता होनी ही चाहिये—

अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा॥

(मानस १।८०।२)

मनुष्य सचमुच आराध्यको नहीं चाहता, वह कुछ लौकिक लाभ या चमत्कार-विशेष चाहता है और इसीलिये गुरु, मन्त्र, आराध्य बदलता है। ऐसा व्यक्ति प्रायः ठगा जाता है और ठगा न भी जाय तो असफलता ही उसका भाग्य है।

साधनमें सफलता तो दृढ़ श्रद्धा और निष्ठाके द्वारा प्रादुर्भूत होती है। अतः धैर्यपूर्वक, कष्ट सहकर भी जहाँ लगे हैं, वहीं लगे रहना चाहिये।

गुरु—आपने अपने साधनका, मन्त्रका, इष्टका स्वयं निर्णय किया है अथवा यह गुरूपदिष्ट है? इस बातका बहुत अधिक महत्व है।

अनेक लोग कह देते हैं—'हमने हनूमान्‌जीको गुरु मान लिया है।'

श्री हनूमान्‌जी, भगवान् शंकर अथवा देवर्षि नारद आदि गुरु नहीं हो सकते, यह कहनेका साहस भला कौन करेगा; किंतु आपके मान लेनेसे ये आपके गुरु नहीं हो गये। यह भी आपके अहंकारका ही पोषण है। ऐसे गुरु मानकर सफलता मिल तो सकती है, जैसे एकलव्यको मिली थी; किंतु तब आपमें असाधारण दृढ़ता होनी चाहिये और आपको यह समझ लेना चाहिये कि आपको सामान्यसे कम-से-कम दस गुना अधिक समय और श्रम लगेगा।

गुर बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जो बिरंचि संकर सम होई॥

(मानस ७।९३।५)

श्रीरामचरितमानसकी यह वाणी उपेक्षणीय नहीं है। कहा यह जा रहा है कि यदि ब्रह्माके समान वेद-शास्त्रका मर्मज्ञ तथा शंकरजीके समान तपस्वी, योगी, विरक्त, साधननिष्ठ हो, तब भी कोई गुरुके बिना संसार-सागरसे पार नहीं हो सकता।

यहीं मैं स्पष्ट कर दूँ कि शास्त्र स्वप्न-दीक्षाको सिद्ध-दीक्षा मानता है, स्वप्नमें, तन्द्रामें, ध्यानमें या जागते भी अदृश्य रूपसे यदि किसीको कोई दीक्षा मिली है तो वह गुरुदीक्षा है, इसमें कोई संदेह नहीं। उसीमें निष्ठा रखनी चाहिये।

गुरु माना नहीं जाता। अपनी ओरसे मान लेनेसे इसीलिए कोई गुरु नहीं हो जाता। गुरुके शरणागत हुआ जाता है और गुरु कृपापूर्वक अपनाता है। गुरु जब कृपापूर्वक अपना लेता है, तब वह आपका गुरु हुआ। जबतक उसकी स्वीकृति न मिले, आपके उद्धारका दायित्व उसका नहीं है। आपकी मान्यतासे आपको सफलता नहीं मिलेगी।

साधनमात्र जो मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके लिए किया जाता है, उसमें अहंकार सबसे बड़ी और अन्तिम बाधा है। यह अहंकार ही है, जो आपको किसी प्रत्यक्ष महापुरुषमें आस्था नहीं करने देता। किसी अदृश्य—अमर सत्ताको अपना गुरु मानकर आप साधनमें प्रगति भी करलें तो 'मैंने किया' यह अहंकार कैसे नष्ट होगा ? अहंकार नष्ट न हो तो चमत्कार भले पा लिये जायँ, किंतु भगवत्प्राप्ति या मोक्ष नहीं हुआ करता।

अवश्य ही ऐसी अवस्थामें उचित गुरु चाहिये। आज ऐसे उचित गुरुका अन्वेषण बहुत कठिन हो गया है, यह स्पष्ट है; क्योंकि चमत्कारी पुरुषों और अवतारोंकी आज भीड़ है। इस भीड़के द्वारा भोले श्रद्धालुजन भरपूर भटकाये जाते हैं, ठगे जाते हैं।

यहीं मुझे कहना है कि ठगे केवल मूर्ख ही नहीं जाते, बड़े बुद्धिमान्-विद्वान् भी ठगे जाते हैं; किंतु ठगे वे ही जाते हैं, जो चमत्कारसे आकर्षित होते हैं और जिनकी पूरी आस्था भगवान्‌में नहीं है। जो उन दयामयपर ही पूर्णतः निर्भर होते हैं, उन्हें कोई ठग नहीं सकता।

गुरु मार्गदर्शक होता है। मार्ग छोटा टार्च या मोमबती भी दिखा सकती है। आपके पास पैसा तो लालटेन खरीदनेका नहीं है और आप बाजारमें गैसबत्ती पा लेनेकी ताकमें हैं तो अवश्य आपके ठगे जानेकी सम्भावना है।

आप पहले अपने संयम, धर्मपालन, श्रद्धा तथा तत्परताकी ओर भी देखलें कि आप कितने प्रस्तुत तथा श्रद्धालु हैं। आप जितने—जैसेके अधिकारी हैं, विश्व-संचालकका विधान वह अवश्य आपको देगा।

बहुत प्रसिद्ध, बहुत विद्वान्, बहुत चमत्कारी या ऐसा गुरु आप पाने चलते हैं, जिसके समीप ठहरने-भोजनादिकी पूरी सुविधा हो और जो आपको सम्मान दे। आपको शीघ्र भक्तराजकी उपाधि दे दे तो आप ठगे जायँ, इसमें आश्चर्य क्या है ?

आपको कोई गरीब, अपरिग्रही, सच्चा व्यक्ति दीखता ही नहीं तो आप अभी गुरु पानेयोग्य ही नहीं हुए। आपमें श्रद्धा है, कोई कामना नहीं है तो आपको केवल यह देखना है—

१. आप जिसको गुरु बनाकर आश्रय लेना चाहते हैं, वह आपसे या किन्हीं औरोंसे कोई सांसारिक वस्तु या सुविधाकी अपेक्षा रखता है या नहीं। अपेक्षा रखता है तो वह साधक भी नहीं है। अपेक्षा नहीं रखता, निरपेक्ष है तो वह साधु-गृहस्थ किसी वेषमें हो, कैसे भी रहता हो, ठीक है।

२. वह उस पथका ज्ञाता तथा पथिक भी है या नहीं, जिसपर आप चलना चाहते हैं। आपकी रुचि भक्तिमें है और उसकी निष्ठा ज्ञानमें है अथवा आपकी प्रीति निर्गुणमें है और वह मूर्तिपूजामें प्रीति रखता है, आप कालीकी आराधना करना चाहते हो और वह नारायणका भक्त है तो भी वह आपका मार्गदर्शक नहीं हो सकता।

केवल इन दो बातोंका ठीक-ठीक ध्यान रखकर यदि आप मार्गदर्शक ढूँढ़ेंगे और अपनी योग्यता, श्रद्धा, तत्परताके स्तरके अनुसार ढूँढ़ेंगे तो आपको उसे प्राप्त करनेमें कठिनाई नहीं होगी।

सत्कारासेवन—

आपके वशकी जो बात नहीं है, उसकी आशा आपसे कोई समझदार मनुष्य भी नहीं कर सकता, फिर सर्वज्ञ भगवान् तो कैसे करेगा। इसलिए यदि जप, पाठ-पूजादिमें मन एकाग्र नहीं होता तो चिन्ता मत कीजिये। यह कोई दोष नहीं है।

मन एकाग्र होना साधनकी पूर्णता है। यही पूर्णता तो अनेक जन्मोंके साधनसे प्राप्त करनी है। मन एकाग्र होकर लगने लग गया तो बाकी क्या रहा ? अतः यह समझ लीजिये कि मन सरलतासे नहीं लगा करता। मन नहीं लगता, नहीं लगेगा। आपको जो करना है, वह बिना मन लगे ही करना है।

जो लोग समझते हैं कि मन ही नहीं लगता तो जपादि करनेसे लाभ ? वे कभी कुछ कर नहीं सकेंगे। पानीमें उतरकर हाथ-पैर चलानेपर धीरे-धीरे तैरना आता है। तैरना आ जाय, तब पानीमें उतरना है, यह हठ मूर्खतापूर्ण है। इसी प्रकार जप, पाठ, पूजा, ध्यानका प्रयत्न करते-करते मन कुछ लगने लगेगा।

सीधी बात—जो आपका नहीं; आपके वशमें नहीं, उसे आप दे कैसे सकते हैं। मन आपके वशमें नहीं है, अतः उसे भगवान्‌को दे देना भी अभी आपके वशमें नहीं है।

जो आपके वशमें है, उसे ठीक-ठीक दीजिये। आपके वशमें आपका शरीर है, आपकी जीभ है। इनको ठीक-ठीक लगाइये। इन्हें आप नहीं लगाते तो बेईमानी करते हैं।

साधन एकाग्र मनसे तो तब होगा, जब मन एकाग्र होने लगेगा। मन एकाग्र होने लगे, यह तो साधनका फल है। लेकिन अभी साधन सत्कारासेवित होना चाहिये। इतना जप, इतना पाठ, इतनी पूजा करनी है तो फर्ज अदायगीकी भाँति मत कीजिये। पूरी सावधानीसे सम्मानपूर्वक कीजिये।

आप जप, पूजा, पाठ करते समय ध्यान रखिये कि आप भगवान्‌के सम्मुख, उनके समीप उपस्थित हैं। जब कोई बहुत सम्मानित आ जाते हैं

तो उनके पास आप जैसे उठते-बैठते, बोलते-व्यवहार करते हैं, अपना व्यवहार वैसा रखिये ।

माला सम्मानपूर्वक रखिये—उठाइये और जपके समय भी सम्मानपूर्वक हाथ हृदयके पास रखिये। पाठका ग्रन्थ सम्मानपूर्वक स्पर्श कीजिये और ऊँचे आसनपर उसे रखकर पाठ कीजिये । हाथमें उठाकर पाठ मत कीजिये ।

खाँसी, छींक, जँभाई लेनेमें, किसीको कुछ कहनेमें उतनी सावधानी रखिये, जितने सम्मानित व्यक्तिके समीप रहनेपर आप रखते हैं। पैर फैलाकर बैठना या वीरासन अथवा व्यासासनसे बैठना, चिल्लाकर बोलना, किसीको वहाँ डाँटना आदि ऐसे समय नहीं करना चाहिये ।

साधनके समय जब साधन तथा ग्रन्थ, माला आदि के प्रति पूरा सम्मान रखा जाता है, तब मनमें भाव बनता है कि आप भगवान्‌के सम्मुख हैं । भगवत्सान्निध्यकी भावना जाग्रत होती है ।

स्मरण रखिये कि किसी क्रियाका नाम 'भजन' नहीं है । भगवान्‌के स्मरणका नाम 'भजन' है । जप, पाठ, पूजादिके द्वारा भगवान्‌का स्मरण होता है, इस कारण इनको 'भजन' कहते हैं । आप साधनके प्रति जितना सम्मानका व्यवहार रखेंगे, उतना ही अधिक स्मरण होगा ।

ईमानदारी—

यहाँ मैं व्यवहारकी साधारण ईमानदारीकी बात नहीं कह रहा हूँ । मैं कह रहा हूँ साधनमें ईमानदारीकी बात । जो अपने साधनमें साधनके साथ ईमानदार नहीं रहेगा, उसका साधन कभी सफल नहीं होगा। अतः इस ईमानदारीको ठीक-ठीक समझ लेना चाहिये ।

आप जानते हैं कि दूसरेको दिखानेके लिए किया जानेवाला साधन दम्भ है । अतः ध्यानपूर्वक देखिये कि कोई विशेष व्यक्ति आस-पास हो तो आपका पाठ अधिक सस्वर हो जाता है या नहीं ? आप ध्यान-पूजामें अधिक तल्लीनता दिखलाने लगते हैं या नहीं ? यदि ऐसा-कुछ होता है तो यह 'दम्भ' है । आप भगवान्‌को नहीं, उस विशेष-व्यक्तिको आकृष्ट करना चाहते हैं । उसकी दृष्टिमें अपनेको भजनमें लीन सिद्ध करना चाहते हैं ।

मैं उनकी बात नहीं करता हूँ, जिन्हें कीर्तन-भजनमें तब आवेश आता है, जब कोई बड़ा व्यक्ति उनके आस-पास हो। जो चश्मा बचाकर मूर्छित होते हैं, ये तो ध्यान देनेयोग्य ही लोग नहीं हैं। मैं तो आपकी बात कर रहा हूँ।

दम्भके अतिरिक्त भी बेईमानी हैं और वह दम्भसे भी भयानक हानिकर है। मनुष्यमें दुर्बलता होती है। अनेक असंयम वह करता है, किंतु एक नियम बना लीजिये कि अपने साधन या इष्टका, उनके प्रभाव एवं सम्बन्धका नाम लेकर कोई स्वार्थ-साधन नहीं करेंगे। इस सहारे अपनी किसी दुर्बलताका पोषण नहीं करेंगे।

मैं जानता हूँ कि अधिकांश लोग, विशेषतः वे लोग जो धार्मिक-आध्यात्मिक क्षेत्रमें प्रसिद्ध हो जाते हैं, ऐसी बेईमानी प्रायः करते हैं। इसीलिए उनका जीवन भगवन्मुख न रहकर पतनोन्मुख हो जाता है।

आपकी सब दुर्बलता क्षम्य है। भगवान् तो हैं ही पतित-पावन, किंतु आप भगवान्‌को या उनके नामको, उपासनाको जब अपनी दुर्बलताके पोषणका साधन बना लेते हैं तो आपके लिए कोई आशा बच नहीं रहती। अतः इतना नियम ही कर लीजिये कि जीवन चाहे जैसा हो, साधन चाहे जितना अल्प हो, अपने साधनको किसी अपकर्मका माध्यम नहीं बनावेंगे।

एक प्रसिद्ध चोर था; किंतु कालीका उपासक था। संयोगवश वह देवी-मन्दिरमें पूजा कर रहा था, तभी कोई यात्री भी मन्दिरमें आ गया। यात्रीने चोरको प्रार्थना करते देखा। कोई भक्त समझा। अनुरोध करके उसके साथ उसके घर गया और रात्रिमें अपनी सोनेकी मुद्रासे भरी थैली उसे देकर सो गया। सवेरे चोरने जब यात्री चलने लगा, थैली लौटाते हुए कहा—'मैं तो चोर हूँ; किंतु तुमने मुझे माँका भक्त माना था, मैं माँके बीचमें रहते तुम्हें धोखा नहीं दे सकता था; किंतु तनिक सावधान रहा करो !'

आप क्या सोचते हैं कि उस चोरपर भगवतीकी कृपाका अवतरण विलम्बसे होगा ? आप अपने साधनको ही दुर्बलताके पोषणका माध्यम बना लेंगे तो वह आपका उद्धारक कैसे बन सकेगा।

आवेश नहीं—जीवन—

प्रारम्भमें कोई काम किया जाय, उसमें एक आवेश होता है। सबसे उत्तम उदाहरण है कि लड़के-लड़कियाँ किसीकी ओर आकृष्ट हों, उससे मिलनेका अवसर भी हो तो उनके मनमें बड़ा आवेश होता है। अब उसीसे विवाह भी हो जाय तो आवेश कितने दिन टिका रहेगा? इसका क्या यह अर्थ है कि उनका परस्पर विवाह होना ही नहीं चाहिये?

भाई मेरे, दूधको अँगीठीपर चढ़ाओ तो पहले उसमें उबाल आता है; किंतु दूध पककर गाढ़ा हो जाय तो उबाल नहीं आवेगा। यही दशा प्रेमकी, साधनकी है। जो आवेश पहले था, उसमें आपको रस आया अवश्य, किंतु वह आवेशजन्य है। वह टिकाऊ नहीं है। साधनमें चमत्कारोंका अनुभव भी ऐसे आवेशके ही लक्षण हैं। आप साधनको जीवन बनाइये और जीवन बननेकी महत्ता समझ लीजिये।

आपका जीवन है—श्वास। आप श्वास लेते हैं, इसमें आपको कोई रसानुभाव होता है? स्मरण न दिलाया जाय तो श्वासका चलना भी स्मरण नहीं रहता; किंतु श्वास लेनेमें कुछ रुकावट पड़े तो?

जो लोग प्रतिदिन स्नान करते हैं, उन्हें एक दिन स्नान करनेका अवसर न मिले तो उनको बेचैनी होती है। स्नान करनेमें कोई चमत्कार नहीं हुआ करता। ऐसे ही जब साधन-भजनमें कोई चमत्कार,कोई रसानुभव न हो; किंतु उसमें बाधा पड़नेपर बेचैनी हो तो साधन आपका जीवन बन चुका। यह उत्तम स्थिति है। रसास्वादको तो विघ्न माना गया है। अतः रस आने तथा चमत्कार दीखनेको महत्ता मत दीजिये।

अपनत्व—

इस सम्बन्धकी यह अन्तिम बात। बहुत ही सीधी बात है कि परायेसे प्रीति नहीं हुआ करती। प्रीति अपनत्वमें उत्पन्न होती और बढ़ती है। अपनत्व जितना प्रगाढ़ होता है, प्रीति उतनी अधिक होती है।

आपका अपने आराध्यसे कोई अपनत्व—कोई नाता है या नहीं? यदि नहीं है तो आपकी उनमें प्रीति कैसे होगी?

नाता क्या होगा—यह प्रश्न नहीं है। एक भावुक भक्तने एक पद सुनाया। उसका भाव था—

'स्वामी ! मैं तो आपका कुत्ता हूँ। मेरे गलेमें आपका बाँधा पट्टा है, अतः दूसरा कोई मुझे डंडा मारनेका साहस कैसे कर सकता है।

'मैं तो कुत्ता हूँ, अतः इधर-उधर भटकने लगूं तो मुझे आप पुकार लेना। यह आपका कर्त्तव्य है।

'मैं कभी आपके कंधोंपर पैर रखने लगूं तो उसे मेरा स्नेह मानकर मुझे पुचकारना। मुझसे भूल हो तो मुझे डाँटना, मुझे दण्ड देना मेरे स्वामी ! किन्तु मुझे अपनाये रहना !'

अपनत्व और समर्पित-जीवन उपासनाके सर्वस्व हैं। आपका साधन कुछ भी हो, किंतु आपका जीवन उस साधनको समर्पित है तो आप अवश्य सफल होंगे। यदि आपका जीवन साधनको समर्पित नहीं है, साधन आपके जीवनमें अन्य प्रवृत्तियोंके समान एक प्रवृत्तिमात्र है तो अभी आपका मार्ग बहुत लम्बा है।

भगवान्‌को समर्पित जीवनका तत्काल वरदान है—

१. निरपेक्षता—संसारमें अब किसीसे भी उसे कुछ नहीं चाहिये—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ॥

(मानस ७.४५.३)

२. अभय—जो सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, परमदयालुपर निर्भर है, उसकी किसी प्रकारकी कोई हानि कोई दूसरा कर कैसे सकता है ? अतः वह सर्वतासे निर्भय है। उसकी हानि, उसको पीड़ादि कुछ मिलती है तो वह उसके सर्वज्ञ, दयामय प्रभुकी जानकारीमें, उन्हींकी प्रेरणासे मिलती है; क्योंकि वे मङ्गलमय हैं, अतः उसके मङ्गलके लिए ही वैसा विधान करते हैं। अतः वह तो उस हानि, पीड़ादिमें प्रसन्न होता, उसका स्वागत करता है।

३. निश्चिन्तता—जब जीवन प्रभुको समर्पित है तो अपने लिए चिन्ताकी कोई बात ही नहीं रह गयी। अब वे समर्थ स्वयं सँभालेंगे। स्वयं संचालन करेंगे।

४. निष्कामता—समर्पित-जीवनमें कामनाको स्थान ही नहीं है। अब जो उनकी इच्छा, वही अपनी इच्छा।

राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा हो।

अतएव उसकी स्थिति हो गयी—

सरगु नरकु अपबरगु समाना।
जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥

यही साधनकी पूर्णता है।



मम माया दुरत्यया—

मायाका अर्थ है जादू। कुछ तथ्य न हो और दीख पड़े। जैसे जादूगरके द्वारा दिखलाये गये दृश्य या पदार्थ। प्रत्यक्ष जगत्‌में इसका अच्छा उदाहरण है आकाशकी नीलिमा। आकाशमें नीलिमा है नहीं, किंतु सबको दीखती है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥

श्रीमद्भागवत २.९.३३

'तथ्यके बिना ही जो प्रतीत हो, किंतु स्वयं उसकी खोज करो—उसमें ढूँढ़ो तो कुछ प्रतीत ही न हो। यह माया है—आत्ममाया अर्थात् परमात्माकी माया। जैसे प्रतिबिम्ब होता है। जैसे राहु (तमोग्रह या छाया) है।'

मूल 'चतुश्लोकी भागवत' में मायाकी यही परिभाषा भगवान् नारायणने की है।

आभास—प्रतिबिम्ब पानी या दर्पणमें दीखता तो है, किंतु वहाँ है कुछ नहीं। दर्पण या पानीमें ढूँढ़ने जायँ तो कुछ नहीं मिलेगा; किंतु उस प्रतिबिम्बसे काम होता है। उसके माध्यमसे बिम्बकी आकृति, रंग आदिका ज्ञान हो जाता है।

तम—छायाग्रह राहु आकाशमें कहीं है नहीं। वह तो पृथ्वीकी छाया है; किंतु उसका प्रभाव तो ग्रहणके रूपमें प्रत्यक्ष पड़ता है और ज्योतिषी जानते हैं कि जीवनको प्रभावित करनेवाले ग्रहोंमें किसी भी ग्रहसे राहु दुर्बल नहीं है।

परमात्मा बुद्धि, मन एवं वाणीका विषय नहीं है। इसलिए उसे 'अवाङ्मनसगोचर' कहते हैं। लेकिन माया इसलिए अवाङ्मनसगोचर है; क्योंकि उसे न 'सत्' कह सकते, न 'असत्'। वृक्षकी छायाको आप क्या

कहेंगे ? उसे असत् कह नहीं सकते; क्योंकि उससे ताप-निवारण होता है। उसमें दूसरे पौधे कम बढ़ पाते हैं। लेकिन उसे 'सत्' कहकर ढूँढ़ने चलें तो क्या कुछ हाथ लगेगा ? छायाकी अपनी कोई सत्ता नहीं। वह तो प्रकाशके अवरोधसे उत्पन्न होती है।

माया स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। अतः उसके उत्पन्न होनेका हेतु दूसरा कोई होना ही चाहिये। जादू अपने-आप प्रकट नहीं हुआ करता। उसे दिखलानेवाला कोई जादूगर होगा। छाया किसी वस्तुकी होगी। जैसे राहु पृथ्वीकी छाया है। अतः सम्पूर्ण जगत् यदि माया है तो यह माया परमात्माकी ही होगी। श्रीकृष्ण गीतामें यही तो कहते हैं—

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।' (७.१४)

'यह जो सत्त्व, रज, तमवाली माया है, जिसे आप 'प्रकृति' कहते हैं, वह दैवी है अर्थात् असाधारण है। वह सम्पूर्ण सृष्टिकी कारणभूता है, अतः भौतिक तो सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण भौतिकता उसीसे उत्पन्न होती है। लेकिन माया है तो किसकी ? श्रीकृष्णने स्पष्ट कह दिया—**'मम'** अर्थात् यह मेरी माया है।

श्रीरामचरितमानसमें वर्णन है कि तपोनिरत मनु-शतरूपाके सम्मुख जब परमपुरुष प्रकट हुए तो उन 'निस्वास भगवान्' के साथ—

बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला॥
(१.१४७.२)

उस आदिशक्तिका परिचय उन परमपुरुषने स्वयं दिया—

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥
(मानस १.१५१.४)

'ये आदिशक्ति हैं। वे आदिशक्ति जिन्होंने सम्पूर्ण सृष्टिको उत्पन्न किया है; किंतु ये मुझसे भिन्न नहीं हैं। माया हैं, पर मेरी माया है।'

इन्हीं आदिशक्तिकी वन्दना ग्रंथारम्भमें करते गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥

(मानस, बाल. ५ वाँ श्लोक)

'सृष्टिस्थितिप्रलय विधायिनी होनेपर भी जो क्लेश-हारिणी हैं, अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश रूप पाँचो क्लेशोंको हरण कर लेती हैं, सब प्रकारका श्रेय प्रदान करती हैं, उन श्रीरामवल्लभा—श्रीरामसे अभिन्ना सीताको हम नमस्कार करते हैं।'

सीता तो रामसे अभिन्ना हैं—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।
बंदउँ सीता रामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥

(मानस १.१८)

सीता आदिशक्ति हैं। सीता सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, संहारकी कारिणी हैं। सीता माया हैं। साथ ही सीता सर्व-श्रेयस्करी हैं। सीता क्लेशहारिणी हैं। सम्पूर्ण विश्व इन्हींके वशमें है। गोस्वामीजी श्रीरामकी वन्दना करते कहते हैं—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा—
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लवमेकमेवहिभवाम्भोधेस्तितीर्षावतां—
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥

(मानस १.६ श्लोक)

'जिनकी माया (उसी आदिशक्ति) के वशवर्ती अखिल विश्व तथा ब्रह्मादि देवता हैं, जिनकी सत्ताके कारण ही यह सब (दृश्य जगत्) रस्सीमें सर्पके समान भ्रम होनेपर भी सत्य प्रतीत हो रहा है, एकमात्र जिनके श्रीचरण ही संसार-सागरसे पार होनेके लिए जहाज हैं, (क्योंकि संसारसे पार होनेका अर्थ है—मायासे पार होना और माया तो इन्हींकी है), जो अशेष—सम्पूर्णके परमकारण हैं (कारण तो आदिशक्ति माया है। उस मायाके भी कारण) सर्वनियन्ता श्रीराम-नामवाले श्रीहरिकी हम वन्दना करते हैं।'

मायाका दो रूप मानसमें वर्णित है—

१. गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥

(मानस ३.१४.३)

जहाँतक इन्द्रिय-ज्ञानकी अथवा मनकी (यन्त्रोंकी भी) पहुँच है, इनसे जो-कुछ जाना जाता है, वह सब माया है। सब मायाका ही विलास है। लेकिन यह माया ईश्वरीय है। इसके द्वारा किसीका बन्धन नहीं होता। इसलिए इससे मुक्त होनेका भी प्रश्न नहीं है। कोई कैसा भी बड़ा महापुरुष हो, उसे व्यावहारिक जगत् दीखना बंद नहीं हो जाता। उसे भी चीनी मीठी और नीम कडुआ ही लगता है। मुक्त होनेका यह अर्थ नहीं है कि उसकी नासिका सुगन्धि-दुर्गन्धि बतलाना बंद कर देगी। यदि किसीके साथ ऐसा हो जाय तो वह रोगी है, मुक्त नहीं है। मुक्तात्माके नेत्र खराब नहीं हो जाते। उसे लाल, नीला, पीला, काला, श्वेत—सब रंग दीखते हैं। रंग दीखना, स्वादका पता लगना, गन्ध आना आदि बन्धनके कारण नहीं हैं।

२. मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥

(मानस ३.१४.२)

यह 'मैं' हूँ, यह 'मेरा' है, यह 'तुम' हो, यह 'तुम्हारा' है, यह भाव 'माया' है। शास्त्रकी भाषामें इसीको 'अविद्या' कहते हैं। इसीने सब जीवोंको अपने वशमें कर रखा है। यही बन्धनका कारण है। इसीसे मुक्त होना है।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।
अविद्या, क्षेत्रमुत्तरेषाम्॥ —योगदर्शन २.३.४

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं। ये ही बन्धन हैं। ये ही सुख-दुःखके कारण हैं। इनसे ही मुक्त होना है। इनमें भी अविद्या ही शेष चारोंकी उत्पत्तिका खेत है। अविद्यासे ही अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश उत्पन्न होते हैं।

अविद्या, अज्ञान, अविवेक क्या आपको पर्यायवाची नहीं लगते? विचार करनेपर जो ठीक न लगे—किंतु फिर भी वही किया और माना जाय, यही तो 'अविद्या' है।

आद्य शङ्कराचार्यजी मायाकी दो शक्तियाँ बतलाते हैं—'आवरण' और 'विक्षेप'। इसे साधारण समझसे भी जाना जा सकता है। छाया प्रकाशको ढकती है और स्वयं अनेक रूप (छोटी-बड़ी) होती रहती है।

अविद्याके कारण एक तो अपने स्वरूपका बोध नहीं होता, दूसरे मन चञ्चल बना रहता है।

'मम माया दुरत्यया' यह माया—अविद्या भी दैवी ही है। सृष्टिमें बहुत-से तथ्य अत्यन्त स्पष्ट हैं। सूर्यके समान क्या यह स्पष्ट नहीं है कि शरीर नाशवान् है और पद-अधिकार, संग्रह, धनसे सुख-शान्ति नहीं मिलती। इनसे अशान्ति और विक्षेप ही बढ़ते हैं; किंतु यह सब जानते-समझते हुए भी अच्छे विद्वान्-बुद्धिमान् लोग भी इन्हींके उपार्जन-संग्रहमें रात-दिन व्यस्त हैं।

सब कहनेको कह देते हैं—'शरीरका क्या भरोसा—लेकिन शरीरकी चिन्ता क्या छूट पाती है? दूसरोंकी बात तो जाने दें, जो वेषधारी साधु हैं, जो कथा-वाचक, उपदेशक हैं, वे मञ्चपर बैठकर दूसरोंको संयम, सदाचार, त्याग-वैराग्यका उपदेश करते हैं, उनमें अधिकांश संग्रहके लिए, प्रतिष्ठा पानेको व्यस्त रहते हैं या नहीं? यही माया है—

बोले बिहँसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥

(मानस १.१२४ (क))

जो 'नट मर्कट इव सबहिं नचावत' (मानस ४.६.२४) उस 'यन्त्रारूढ़ानि मामया' (गीता १८.६१) से सबको संचालित करनेवालेकी इङ्गितपर चलनेको सब विवश हैं।

माया ही यह है कि मनुष्य बुद्धिमान् है, समझता है कि इस ओर सुख नहीं है; किंतु उसी ओर दौड़ रहा है। आश्चर्य यह कि दूसरोंको उधर दौड़नेसे बड़े तर्कपूर्ण ढङ्गसे मना भी करता जा रहा है।

यह माया 'दैवी' है—ईश्वरकी है और 'दुरत्यया' है। इसे पार करना बहुत ही कठिन है।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥

श्रीदुर्गासप्तशती (१.५५, ५६) के इस श्लोकका मानसने ठीक अनुवाद कर दिया—

जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई । बरिआई विमोह मन करई ॥

(७.५८.५)

सामान्य लोगोंकी तो बात ही करनेयोग्य नहीं है । ज्ञानियोंके चित्तको भी वे देवी भगवती (ऐश्वर्य स्वरूपा) महामाया बलपूर्वक आकर्षित करके मोहको दे देती हैं । ज्ञानी भी मोहवश हो जाते हैं । उनका भी विवेक साथ नहीं देता ।

इस मायासे—अविद्यासे परित्राण भी भगवती माया ही देती हैं; किंतु परित्राण देनेवाली वे आदिशक्ति महामाया हैं । वे 'उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी' श्रीसीता 'क्लेशहारिणी' हैं और मुख्य क्लेश तो अविद्या ही है । अस्मितादि तो अविद्यासे उत्पन्न होनेवाले हैं ।

ये श्रीसीता—आदिशक्ति कृपा करें तो अविद्याकी निवृत्ति हो और ये श्रीरामसे अभिन्ना हैं । इसीलिए कह दिया गया—

'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्'

एकमात्र श्रीरामके श्रीचरण ही संसार-सागरको पार करना चाहनेवालेके लिए जहाज हैं । दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

'खण्डनखण्डखाद्य' और 'अवधूत गीता'–जैसे अद्वैत वेदान्तके परमोच्च ग्रंथोंने भी स्वीकार किया है—

'ईश्वरानुग्रहादेव पुमानद्वैतवासना ।'

ईश्वर—सर्वनियन्ता, सर्व-संचालकके अनुग्रहसे ही किसी पुरुषकी ब्रह्माकार वृत्ति होती है ।

बहुत सीधी स्पष्ट बात है कि ब्रह्माकार वृत्तिको आना है अन्तःकरणमें; और व्यक्तिका अन्तःकरण समष्टिका अङ्ग है । अतएव जो समष्टिका

नियन्ता, संचालक है, उसके अनुग्रहके बिना किसी भी अन्तःकरणमें कुछ आ कैसे सकता है। वह संचालक हृदयमें ही बैठा है और—

'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।'

(गीता १८.६१)

वही अपनी मायासे सबको कठपुतलियोंके समान घुमा रहा है। अतः उसका अनुग्रह हो, तब अन्तःकरणमें अविद्यासे छूटनेकी प्रवृत्ति जागे।

यही बात श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। (७.१४)

यह दैवी (देवका एक अर्थ है—क्रीड़ाप्रिय) क्रीड़ाप्रिय मेरी माया जीवोंको लेकर खेल कर रही है। इसके खेलमें-से छूटकर निकलना अत्यन्त कठिन है; किंतु यह माया है मेरी (परमात्माकी–श्रीकृष्णकी), अतः जो मेरी ही शरण लेते हैं, वे इस मायाको पार कर जाते हैं।



चिन्तन-सरणि—

१. दो बातें स्पष्ट कह दीं श्रीकृष्णने। एक—'मम माया' और दो—'दुरत्यया'।

माया जीवकी नहीं है, ईश्वरकी है।

माया 'दुरत्यय' है। मायाको पार करना सरल भी नहीं है और असम्भव भी नहीं है।

२. इन दोनों बातोंके दो फलितार्थ भी निकलते ही हैं—

एक—यह सब सत्य अर्थात् तथ्य नहीं है। यह 'माया' है। 'माया' कहते ही प्रतीतिको हैं। माया वह जिसकी अपनी कोई पृथक् सत्ता न हो। वह तो मायावीकी शक्ति है। उससे अभिन्न है।

दो—इस मायाको पार करना है। इसको पार किये बिना जीवका जन्म-मरणसे, दुःखोंसे छुटकारा नहीं है। अतः इसे पार करनेको लक्ष्य बनाना चाहिये।

३. **'मैं अरु मोर तोर तें माया।'** (मानस ३.१४.२)

यही अविद्या है। यही बन्धनका कारण है। इसीको पार करना है। अतः—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥
(मानस ३.१४.३)

—की चर्चा यहाँ नहीं है। भले वह भी माया ही हो; किंतु जीवके वह बन्धनका कारण नहीं है। उसका तत्त्व निर्णयमें उपयोग भले हो, किंतु उससे किसीको कोई बाधा नहीं पहुँचा करती।

४. **मैं अरु मोर तोर तें माया।**

आप इसे भले अविद्या कह लें, किंतु क्या यह जीव-निर्मित है? जीवने इसे उत्पन्न किया है? आपने अपने माता-पिता बनाये या प्रकृतिने?

आपने जान-बूझकर अमुक घर, अमुक परिवार, अमुक वर्गमें जन्म लिया ? आपका देश, आपकी जातीयता, आपका समाज क्या आपके द्वारा चुना गया है ? आप जान-बूझकर मनुष्य हुए ? तब क्या पशु-पक्षी जान-बूझकर उन-उन शरीरोंमें गये हैं ?

५. अज्ञान भी क्या कोई पसंद करता है ?

आपको अनेक भाषाएँ नहीं आतीं। अनेक विषयोंका ज्ञान आपको नहीं है। कबसे नहीं है यह व्यर्थ प्रश्न है। अज्ञान अनादि होता है; किंतु आपको यदि सुविधा हो, साधन हों तो इनमें-से कोई अज्ञान आप मिटा देना चाहेंगे या बनाये रखना चाहेंगे ?

६. अविद्या अनादि है और पुरुषकी स्वीकृतिसे उसके साथ नहीं लगी है। किसीने जान-बूझकर अपनेको अविद्याग्रस्त नहीं किया है।

अविद्या हमारी नहीं है। हमारी स्वीकृतिसे नहीं है। भले हमारे प्रमाद से, हमने दूर करनेकी चेष्टा नहीं की, इसलिये ही बनी हो; किंतु उसे हमारी नहीं कहा जा सकता। वह हममें है, पर किसकी है ? किसकी प्रेरणा या सत्तासे स्फूर्ति पा रही है ?

७. **'मम माया'** वही कह रहा है, जिसकी वह है। उस अद्वितीयके अतिरिक्त दूसरा कोई तत्त्व नहीं है तो अविद्या अन्य कहाँसे आवेगी ?

८. सनातन वैदिक धर्म ईश्वरका प्रतिस्पर्धी कोई शैतान नहीं मानता। अतः आप 'माया' कहें या 'अविद्या कहें, यह है ईश्वरकी ।

छाया होगी, यदि प्रकाश न हो ? भले सूर्यने अन्धकार न देखा हो, सूर्यमें छायाका लेश न हो; किंतु प्रकाशके अवरोधसे ही तो छाया अस्तित्वमें आती है।

नटखट कन्हाईने अपनेको छिपा लिया है, यह उसीकी चतुराई है। उसका छिपा रहना ही 'अविद्या' बन गया।

९. **'जोड़ बाँधे सो छोरै।'**

अकारण नहीं कहा गया। अविद्या उसकी और 'दुरत्यय'। इसे पार करना ही है और पार करना बहुत कठिन है, तब ?

तब यह जिसकी है, उसीको पकड़ना चाहिये। यह बात उसने स्वयं कही—

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'

'गीता ७।१४'



साधन धाम मोच्छ कर द्वारा—

श्रीमद्भागवतका कहना है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धि न तरेत् स आत्महा॥

श्रीरामचरितमानसने इसका बहुत सुन्दर भाषान्तर उपस्थित किया है—

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।
करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो नर तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति, आत्माहन गति जाइ॥

(७.४३.७-८, ४४ दो०)

घास, तृण, वीरुध, क्षुप, लता और वृक्ष ही नहीं, पाषाणमें भी जीवन है। पत्थर भी बढ़ते हैं। पत्थर काटनेवाले जानते हैं कि पत्थरोंमें भी किसी-किसीमें हृदय निकल आता है। वह उस समय गीला होता है; किन्तु हवामें आनेके कुछ क्षण बाद ही अत्यन्त कठिन हो जाता है। तब वह छेनीसे नहीं कटता। अनेक पत्थर काटनेवाले उसे तत्काल खा लेते हैं।

वस्तुतः एकमात्र 'चेतन' ही सत्ता है। 'जड़' नामक कोई तत्त्व नहीं है। चेतनमें ही जड़का भ्रम हो रहा है। लेकिन यहाँ मेरा तात्पर्य केवल इतना कहना है कि वृक्षादि ही नहीं, पाषाणोंमें भी चेतना है। जीव हैं।

पत्थर, मिट्टी, पानीसे लेकर सब अचर भी जीव हैं और सचल तो जीव हैं ही। पृथ्वीपर जितने मनुष्य हैं, उनसे अधिक ही चींटियाँ, दीमक किसी छोटे स्थानमें, एक घरमें निकल आवेंगे। एक खेतकी घास ही उनसे कहीं अधिक होगी। यह आप समझें तो ध्यानमें आ जायगा कि कितने अधिक जीव हैं केवल पृथ्वीमें और उनमें मनुष्यकी संख्या कितनी नगण्य है। कोई प्रतिशत नहीं। हजारमें एक भी नहीं। कदाचित् लाख घास एवं तृणके पीछे एक मनुष्यकी संख्या आवे या यह भी न आवे।

केवल मनुष्य ही कर्मयोनि है, इसका यह अर्थ है कि मनुष्यके कर्मोंसे ही पत्थर, तृण, कीटादि सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं। ये सब कभीं-न-कभी मनुष्य थे और फिर कभी-न-कभी मनुष्य होंगे।

मनुष्य भूमिमें, पदार्थमें आसक्त मरेगा तो जड़ होगा और घर-द्वार, उद्यानका चिन्तन करता मरेगा तो तृण-वृक्षादि होगा। अब पाषाण, तृण, कीट, पशु-पक्षी आदिकी संख्यापर ध्यान दें तो समझमें आना चाहिये कि मनुष्य होनेका अवसर कितना दुर्लभ है।

'मनुष्य कर्मयोनि है का अर्थ है कि यह ऐसा चौराहा है जहाँसे आप देवयोनियोंमें—स्वर्ग जा सकते हैं। सिद्धलोकोंको पा सकते हैं। दैत्य-दानवादि हो सकते हैं। नरक जा सकते हैं। पाषाण तृण, वृक्ष, कीट, पशु-पक्षी आदि कोई जलचर या नभचर अथवा भूमिके भीतर या बाहर रहनेवाले प्राणी हो सकते हैं। फिर मनुष्य हो सकते हैं और इसी मनुष्य-योनिसे ही आवागमनसे छूटकर मुक्त हो सकते हैं।

पशु-पक्षी आदिसे मनुष्यका भेद समझ लें तो यह भी समझ में आ जायगा कि मनुष्ययोनिमें आकर भी कितने कम लोग मनुष्य हो पाते हैं। शेष सब तो द्विपाद् पशु ही बने रह जाते हैं।

मनुष्यकी कर्ममें स्वतन्त्रताकी सीमा क्या है, यह बात **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** शीर्षक निबन्धमें विस्तारसे स्पष्ट की गयी है। इसको आप थोड़ा यहाँ भी समझ लें। जीव-वैज्ञानिक कहते हैं कि प्राणियोंकी कुछ नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं—१. आहार ग्रहण करना। २. आहार पचाकर मल त्याग करना। ३. संतान उत्पन्न करना। ४. अपनी रक्षाके लिए चेष्टा करना। ५. अपनेको प्रकट करना या दूसरोंको—विशेषतः सजातीयोंको अपनी ओर आकर्षित करना। ६. थक जानेपर सो जाना।

भारतीय मनीषियोंने केवल चार बातें नैसर्गिक मानी हैं—

आहारनिद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

आहारके अन्तर्गत ही आहारका पाचन एवं मल-त्याग आ जाता है। भयका ही रूप है—आत्मरक्षणका प्रयत्न और संतानोत्पादनके लिए अपने

जोड़ेको आकर्षित करनेकी चेष्टा ही विकसित होकर आत्मप्रख्यापन बनती है।

भारतीय विचारकोंने कहा कि इन चारों बातोंकी कोई नैसर्गिक सीमा मनुष्ययोनिमें नहीं है—

आहार निद्रा मैथुन भय। जेतो बढ़ावे तेतो हय॥

पशु-पक्षी आदिमें आहार-निद्रादिकी सीमा है। पेट भरनेके पश्चात् ये प्राणी भोजन नहीं करते; किंतु मनुष्य तो अधिक भोजन करके बीमार बन जाता है और बार-बार यही भूल दुहराता है। पशुओंमें संतानोत्पादनका समय होता है, किंतु मनुष्यमें तो सहवासका कोई मौसम ही नहीं है। मनुष्यका भय भी अनेक बार अकारण होता है और निद्रा भी अनियन्त्रित रहता है। मैंने किसी पशु या पक्षीको अनिद्रा रोगी नहीं सुना है।

आहार, निद्रा, पुत्रोत्पादन, भय—इन चारोंके साथ आप मलोत्सर्ग, आत्मप्रख्यानको मिलालें तो भी कोई हानि नहीं; किंतु ध्यान यह देनेकी बात है कि ये प्राणियोंमें नैसर्गिक होते हैं। इनकी प्रवृत्ति पशुमें भी है। अतः इन्हींतक सीमित रहना पाशविकता है।

अनेक पशुओंमें पर्याप्त बुद्धि और स्मृति होती है। कुत्ते स्वामिभक्त प्रसिद्ध ही हैं और वे अनेक बुद्धिमानीके काम भी करते हैं। इसी प्रकार हाथी, अश्व तथा कई अन्य पशु-पक्षी अपने हितैषियोंको पर्याप्त समयतक स्मरण रखते हैं। चींटी, दीमक, बर्र आदि भवन बनाने, संग्रह करनेमें मनुष्यसे पीछे नहीं हैं। चींटियोंमें तो सैनिक, मजदूर आदि समाज-व्यवस्था है और वे दूसरे दलके बिलोंपर आक्रमण भी करती हैं। उनमें युद्ध होते हैं।

इस प्रकार समाज-व्यवस्था, संग्रह, स्मृति और स्वजातिसे सहयोगकी बात भी मनुष्यकी अपनी विशेषता नहीं है। ये विशेषताएँ अन्य प्राणियोंमें भी हैं। इसलिये इन विशेषताओंके कारण मनुष्य कोई विशेष प्राणी सिद्ध नहीं होता।

अर्थ (अर्थात् संग्रह), भोग (काम), इनके क्षेत्रमें मनुष्य भी पशु-पक्षियोंके समान स्वतन्त्र नहीं है। इस क्षेत्रमें उसे प्रारब्धानुसार भोग प्राप्त

होते हैं और उसे ईश्वरके विधानके अनुसार प्रकृति-प्रेरित चेष्टा करनी है। गीताने इसे बहुत स्पष्ट कर दिया है—

'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।' १३.२४

जैसे दूसरे भोगयोनिके प्राणी अपनी समझ एवं शक्तिके अनुसार चेष्टा करते हैं, वैसे ही मनुष्य भी करता है; किंतु उन कर्मोंमें—

'अहंकार विमूढात्मा कर्ता ऽहमिति मन्यते।' (३.२७)

शेरने गायको मार दिया तो उसे कोई पाप नहीं लगा। मारा शेरने भी क्रोधसे हो सकता है, किंतु मनुष्य मार दे तो गो-हत्या लगेगी। जबकि गाय अपने प्रारब्धानुसार—ईश्वरीय विधानके ही अनुसार शेर या मनुष्यके द्वारा मारी गयी।

मनुष्यकी मनुष्यता है—कर्मस्वतन्त्रता है धर्म तथा मोक्षके क्षेत्रमें। धर्मके क्षेत्रमें भी वहाँ नही है, जहाँ धर्मका प्रभाव औरोंपर पड़ता है। केवल अन्तःकरण-शुद्धिके प्रत्ययरूप धर्ममें और मोक्ष-साधनमें मनुष्य स्वतन्त्र है।

यही मायाका प्रभाव है कि मनुष्य जिस क्षेत्रमें स्वाधीन है, उस क्षेत्रसे लगभग उदासीन है—उसमें कुछ करता नहीं या अत्यल्प श्रम एवं समय देता है और जिस क्षेत्रमें पराधीन है, उस क्षेत्रमें ही सिर-तोड़ श्रम करता पूरा जीवन लगाये दे रहा है। ऐसा मनुष्य मनुष्याकार होनेपर भी पशु ही है।

पाशुपतमतने इसीलिये दो भेद किये मनुष्योंके–'पशु' और 'पशुपति'। जो पाशबद्ध है, वह 'पशु' है। पशुत्व है—पराधीनता। मन एवं इन्द्रियोंके जो पराधीन है, वह 'पशु' है; क्योंकि वह तो पाशव प्रवृत्तिके—प्रकृतिके पराधीन है। मन–इन्द्रियोंपर जिसका शासन है, वह 'पशुपति' है। वही ठीक अर्थमें मनुष्य है। वही पशुपति' है।

इस पशुत्वसे छुटकारा कैसे हो ?

मनुष्य-शरीरको 'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।' (मानस ७०.४२.८) कहा गया। मनुष्यकी स्वतन्त्रता—मनुष्यता ही इसमें है कि वह मोक्षके साधन करनेमें—अन्तर्मुख होनेमें स्वतन्त्र है। बाहर संसारके संचालनका भार तो ईश्वरपर है। अतः बहिर्मुखतामें पारतन्त्र्य है, पशुत्व है।

साधन है अन्तर्मुखता। यह सीधी बात समझ ली जाय तो बात सरल हो जाती है। अब बहिर्मुखतासे उपरत होकर अन्तर्मुख हुआ कैसे जाय, यही प्रश्न शेष रहता है।

मनुष्यके समीप है शरीर अर्थात् क्रियाशक्ति, हृदय अर्थात् भावना-शक्ति और बुद्धि अर्थात् विचारशक्ति। कोई चौथीशक्ति मनुष्यके पास है ही नहीं। अतः साधन भी वह इनमें-से किसी एक अथवा एकाधिकके माध्यमसे ही कर सकता है।

ज्ञान बुद्धि—मस्तिष्कसे सम्पन्न होता है। प्रेम हृदयसे होगा और कर्म शरीरसे किया जायगा। लेकिन जितना जप-तप, योग-यज्ञ है, इसमें शरीर और मन—दोनों सम्मिलित रहते हैं। शरीरसे क्रिया और मनसे भावना होती है। बिना भावनाके क्रियाका महत्व बहुत थोड़ा होता है।

सम्पूर्ण साधन अथवा सम्पूर्ण जीवन तो है ज्ञान, भक्ति और क्रिया—इन तीनोंका ठीक समन्वय। इसीको गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

'हिय निरगुन नयननि सगुन, रसना राम सुनाम।'
(दोहावली)

हमारी बुद्धि जो कुछ परमात्माके सम्बन्धमें सोच-समझ पाती है, हमारी प्रगति और क्रिया उसके अनुरूप होनी चाहिये। गीतामें कहा गया—

'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।' (१२.८)

श्रीमद्भागवतमें अधिकारी बतलाते हुए भगवानने उद्धवसे कहा—

'निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।' (११.२.७)

जिनका चित्त ऐन्द्रियक भोगोंसे विरक्त हो चुका है और व्यावहारिक जीवनमें जो कर्मत्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं।

यदि ज्ञानके साथ वैराग्य न हो तो ज्ञान केवल बौद्धिक कल्पना बना रहेगा और जीवन पशुप्राय रहेगा; क्योंकि ऐन्द्रियक भोगोंकी लिप्सा बहिर्मुख बनाये रहेगी। बुद्धि ज्ञानके नामपर अनर्गल प्रवृत्तियोंका समर्थन करेगी। **इसीलिये श्रीमद्भागवतका कहना है—**

न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षात्, वरीयसीरपि वाचः समासन् ।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं, न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥
(५.११.३)

'गृहस्थ धर्मका सुख अर्थात् जिह्वा तथा उपस्थके भोग स्वप्नके समान हैं। अत्यल्पकालिक हैं। जिसने स्वयं विवेक करके इनको हेय-त्याज्य नहीं समझ लिया है, उसे समस्त श्रेष्ठ वाणी (श्रुति, स्मृति, महात्माओंके उपदेश) मिलकर भी तत्त्व ग्रहण नहीं करा सकतीं।'

इसीलिये ज्ञानके आचार्य तत्त्वज्ञानके लिए साधन चतुष्टय-सम्पन्नको ही अधिकारी मानते हैं। साधन-चतुष्टय है—१. विवेक, २. वैराग्य, ३. षट्सम्पत्ति एवं ४. मुमुक्षा। इनमें-से मुमुक्षा और मुक्त होनेकी इच्छा नहीं होगी तो प्रवृत्ति ही नहीं होगी। विवेक और वैराग्य परस्पर अनुपूरक हैं। षट्सम्पत्ति है—१. शम, २. दम, ३. उपरति, ४. तितीक्षा, ५. श्रद्धा एवं ६. समाधान।

'शम' अर्थात् मनकी शान्ति और 'दम' अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह। ये ज्ञानयोगके साधकको आरम्भमें चाहिये। योगका प्रारम्भ ही होता है—यम-नियमसे। यम—१. अहिंसा, २. अस्तेय, ३. सत्य, ४. ब्रह्मचर्य एवं ५. अपरिग्रह। नियम—१. शौच, २. संतोष, ३. तप, ४. स्वाध्याय एवं ५. ईश्वर-प्राणिधान।

निष्काम कर्मयोगमें निष्कामता तो प्रथम आवश्यक है और इन्द्रिय-लोलुपमें कामना होगी या निष्कामता? अब रहता है—भक्तियोग। उसका अधिकारी बतलाया गया—

'न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।'
(भा० ११.२०.८)

'जे न बहुत विरक्त है और न बहुत आसक्त है, ऐसे व्यक्तिको सफलता देनेवाला 'भक्तियोग' है।'

पतितपावनी केवल 'भक्ति' है। अतः भक्तिके सभी अधिकारी हैं। भक्तिका साधनात्मक रूप है–१. श्रवण, २. कीर्तन, ३. स्मरण, ४. पादसेवन, ५. अर्चन एवं ६. वन्दन।

१. कुछ नहीं कर सकते हो तो भगवच्चरित, भगवद्‌गुणका श्रवण ही करते रहो। २. कर सकते हो कुछ तो भगवन्नामका, गुणका, लीलाका कीर्तन करो, गान करो ! नामजप करो। ३. यदि मन कुछ एकाग्र हो सकता है तो भगवान्‌का स्मरण-ध्यान करो। उनके रूप, गुण, चरितका ध्यान करो। ४. मन लगता रहे तो भगवान्‌की मानसिक पूजा करो । ५. बाहर मन्दिरमें या अपने घरपर भगवान्‌की मूर्ति या चित्र रखकर पूजा करो। ६. अपनेको सदा विनम्र बनाये रखो उन सर्वेश्वरके सम्मुख।

इस साधनात्मिका भक्तिसे साध्या भक्तिका उदय होता है। दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—ये भाव हैं। इसका अर्थ है—भगवान्‌से अपने किसी सम्बन्धका दृढ़ भाव। यह सम्बन्धपूर्वक भजन-स्मरण ही वास्तवमें सच्ची भक्ति है। यही साधन है। यही मनुष्यको पशुत्वसे छुड़ाकर परमात्मासे सम्बन्धित करती है।



चिन्तन-सरणि-

१. मनुष्ययोनिको जब कर्मयोनि कह दिया गया तो अपने-आप सिद्ध हो गया कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। सभी भोगयोनिके प्राणी परतन्त्र हैं; क्योंकि उनका शरीर ही उन्हें अमुक प्रकारके भोगकी उपलब्धिके लिए मिला है।

२. प्रारब्ध तो मनुष्यका भी है ही। अतः भोग मनुष्यको भी प्रारब्धानुसार ही मिलना है। इसका स्पष्टार्थ है कि सभी प्राणी भोगोपलब्धिमें परतन्त्र हैं; किंतु भोग स्वतः नहीं मिला करते। भोगोंकी प्राप्तिके लिए भी चेष्टा करनी पड़ती है। गायको घास चरना पड़ता है। सिंह आखेट ढूंढ़ता है। चींटी, मधुमक्खी, पक्षी आदि अथक उद्योग करते हैं आहार-प्राप्तिके लिए। चींटी-जैसे अनेक प्राणियोंमें संग्रहकी प्रवृत्ति भी है। इसका अभिप्राय है कि अर्थ-पुरुषार्थ तथा काम-पुरुषार्थ तो मनुष्येतर प्राणियोंमें भी है ही।

अर्थप्राप्ति, संग्रह, ऐन्द्रियक भोगोपलब्धि, अपना तथा अपनोंका पालन-रक्षण पशु-पक्षी भी करते हैं। इन सबके लिए प्रकृति-प्रेरित कर्म होता है। मनुष्य भी इतनेतक ही सीमित रहे तो वह भी द्विपाद् पशु ही है। उसे जो कर्म-स्वातन्त्र्य प्राप्त हुआ, उसका उसने उपयोग ही नहीं किया, उसकी दशा उस पशु-जैसी हो गयी, जो खोल देनेपर भी खूँटेके पास ही खड़ा रहता है। पालकके दिये चारेसे ही संतोष करके चरने जाना ही नहीं चाहता।

३. साधनधाम है—मनुष्य-देह। साधनका अर्थ ही है—सकाम या निष्काम-साधन। साधन अर्थात् धर्म या मोक्षका साधन।

जैसे सबको एक-जैसे आहारमें संतुष्ट नहीं किया जा सकता, अपनी-अपनी रुचिके अनुसार आहार उन्हें संतुष्ट करता है, वैसे ही रुचिके अनुसार साधनमें मनुष्य सफलता पाता है।

अधिकार-भेदकी स्वीकृति वैदिक धर्मकी अपनी मौलिक विशेषता है।

४. मोक्ष तो है ही स्वतन्त्रताका क्षेत्र। मोक्षके साधनमें मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है। इसीलिये मनुष्य-जन्मकी सार्थकता ही है जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा पा जानेमें।

मोक्ष स्वत्व है मनुष्यका। नर सखा है नारायणका; लेकिन वह नर होकर भी पशु बना रहे तो नारायणका स्वभाव बलात् कुछ देनेका नहीं है।

५. नर क्योंकि नारायणका सखा है, वह अर्थ और भोगके क्षेत्रमें भी वस्तुतः पूर्ण परतन्त्र नहीं है। बात केवल यह है कि इन क्षेत्रोंकी उसकी स्वतन्त्रता थोड़ी कठिनाईसे प्राप्त होनेवाली है।

सामान्य नियम यही है कि प्रारब्ध भोगना पड़ता है। लेकिन तप, यज्ञ, सविधि अनुष्ठान प्रारब्धको बदल दे सकते हैं, यह बात तो शास्त्र-सम्मत है।*

धर्म-पुरुषार्थमें भी मनुष्य स्वतन्त्र है। आप जानते हैं कि पशु-पक्षी, चींटी-दीमकका कोई धर्मशास्त्र नहीं है। आप कुत्ते या बिल्लीसे अथवा कौएसे धर्माचरणकी आशा नहीं कर सकते।

धर्म निष्काम ही होगा या निष्काम ही किया जायगा, ऐसा कोई प्रतिबन्ध तो है नहीं। सकाम जप, तप, पाठ, यज्ञदान भी होते हैं, प्रायः यही अधिक होते हैं। शास्त्रोंमें इनका वर्णन है, समर्थन है।

सकामत्व क्या? अर्थ या भोग-प्राप्ति अथवा इनमें आयी बाधाका निवारण ही या और कुछ?

यदि सकाम जप-तपादि सफल ही न हों तो उनका विधान व्यर्थ होगा या नहीं?

इसका अर्थ है कि मनुष्य अर्थ तथा कामको प्राप्त करनेमें भी वस्तुतः स्वतन्त्र ही है; किंतु प्रारब्धके विपरीत इनकी प्राप्ति धर्मके माध्यमसे होती है। इसीलिये मनुष्य-शरीरको साधन-धाम (सभी पुरुषार्थोंके साधनका माध्यम) कहा; किंतु सार्थकता इसकी 'परलोक-सुधारने' में भगवत्प्राप्तिमें है।



* 'कर्म-रहस्य' देखिये।

जब द्रवहिं दीनदयाल राघव--

मनुष्य कर्मयोनिका प्राणी क्या हुआ—उसके जन्मके साथ एक विपत्ति लग गयी कि उसे सब कुछ यहीं सीखना पड़ेगा। पक्षियोंके बच्चोंको घोंसला बनाना किसीसे सीखना नहीं पड़ता। पशुओंको, वन्दरोंको पानीमें रहना नहीं है; किंतु इनके बच्चोंको तैरना जन्मसे आता है; किंतु मनुष्य जलमें डूबकर मर जाता है। उसे बिना सिखलाये तैरना नहीं आता।

भोगयोनिके सब प्राणियोंको अपने शरीरके निर्वाहके लिए आवश्यक ज्ञान जन्मसे प्राप्त होता है। उनका कोई नवीन प्रारब्ध तो बनना नहीं है। अत: प्रारब्ध जो उन्हें प्राप्त है, वह अपना भोग देनेके उपयुक्त ज्ञान भी जन्मसे दे देता है।

मनुष्यका प्रारब्ध अन्तिम प्रारब्ध है। अब उसे नवीन कर्म करके संचितको बढ़ाना है। यदि अपने इस जीवनमें वह कर्मके चक्रसे मुक्त नहीं हो जाता तो इस जीवनके अन्तिम संस्कारके अनुसार प्रारब्धोंकी एक शृङ्खला उसके लिए बनेगी। 'कर्म-रहस्य' में यह पूरी प्रक्रिया स्पष्टकी जा चुकी है।

मनुष्य-योनि प्राप्त होनेके लिए जो प्रारब्ध बना, उसके अनुसार देश, जाति, कुल तथा परिस्थिति प्राप्त हुई। लेकिन आगेके जीवनको चलानेके लिए मनुष्यके बालकको प्राप्त परिस्थितिके अनुसार सब कुछ सीखना है। सीखा-सिखाया कोई ज्ञान वह माताके उदरसे लेकर नहीं आया है। अपवाद रूप कुछ ही बालक जन्मसे किन्हीं विषयोंके ज्ञाता निकलते हैं।

प्रारब्धके अनुसार परिस्थिति प्राप्त हुई और उस परिस्थितिके अनुसार सीखनेको मिला। मल्लाहका बालक नौका चलाना, मछली पकड़ना सीख गया और बड़े नगरमें उत्पन्न सम्पन्न व्यक्तिके पुत्रको उच्च शिक्षा प्राप्त करनेका अवसर मिला। इसका अर्थ है कि सर्व संचालक ईश्वर जिससे जो कार्य लेना चाहता है, उस कार्यको करनेकी योग्यता प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति और उसमें लगनेकी रुचि देता है। अनुकूल अवसर सुलभ करता है।

यह आप ईश्वरके स्थानपर प्रारब्ध, प्रकृति या विधानका नाम ले सकते हैं। इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। बात तो यह करनी है कि उत्तरी ध्रुवके हिमप्रदेशकी एस्कीमों जातिमें उत्पन्न अथवा अफ्रीकाके घोर अरण्यके किसी निवासीके पुत्रके लिए न वैज्ञानिक बननेका अवसर है और न योगी, तपस्वी, ज्ञानी बननेका।

मनुष्य कर्मयोनिका प्राणी है; किंतु उसके कर्म स्वातन्त्र्यकी सीमा है। अर्थ, धर्म, कामके क्षेत्रमें वस्तुतः वह कुछ करनेको स्वतन्त्र नहीं है। यह क्षेत्र तो जगत्के नियन्ताके द्वारा संचालित है। यही माया—अज्ञान है कि जिस क्षेत्रमें मनुष्य कुछ करनेको स्वतन्त्र नहीं है, उसीमें जुटा पड़ा रहा। उसीमें हाथ-पैर मार रहा है और जिस क्षेत्रमें उसकी कर्म-स्वतन्त्रता है, उसकी ओरसे उदासीन है।

मनुष्य मोक्षके क्षेत्रमें स्वतन्त्र है। वह अपने मनमें सर्वनियन्ताके सम्बन्धमें कोई भावना बनाकर उसे दृढ़तासे पकड़ ले सकता है और वह सर्वनियन्ता तो सर्वरूप है। अतः उसे जो जैसा मान लेगा, समझ लेगा, उसके लिए वह वैसा ही है। बड़े-से-बड़े विद्वान्-बुद्धिमानकी बुद्धिमें भी वह कहाँ आता है। अतः जब भावना ही करनी है और वह कल्पित ही रहेगी तो कितनी कल्पितका प्रश्न व्यर्थ है।

कोई कहीं किसी परिस्थितिमें उत्पन्न हुआ हो, वह जगन्नियन्ताके सम्बन्धमें अपनी बुद्धि-विद्याके अनुसार भावना कर सकता है। एस्कीमो और घोर वनका निवासी भी सर्व-सञ्चालकके सम्बन्धमें जैसा जो कुछ सोच सकता है, उसीपर दृढ़ हो जाय तो उसीसे उसका उद्धार हो जायगा। अतः इस क्षेत्रमें सब समान रूपसे स्वाधीन हैं। इसपर देश, काल, परिस्थितिका प्रभाव नहीं पड़ता।

अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्।

कोई एक ही जन्ममें तो मुक्त हो नहीं जाता। सभीको अनेक जन्म लगने हैं और किसने-कितने अल्पसे आरम्भ किया, इसका प्रश्न नहीं है; क्योंकि—

'नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥' गीता २०.४०

एक बार अपनी मोक्ष-पुरुषार्थको पानेकी स्वतन्त्रताका उपयोग प्रारम्भ कर दिया—एक बार अन्तर्मुखताका प्रयास चल पड़ा, एक बार उस सर्वेश्वरकी प्राप्तिकी इच्छा जागी तो बस। अब यह प्रयास स्वयं जन्म-जन्ममें आगे बढ़ता रहेगा। इसकी गति कोई विघ्न रोक नहीं सकता। यह जन्म-मरणके चक्रसे बाहर करके ही रहेगा।

प्रश्न यह नहीं है कि एस्कीमो या अत्यन्त जंगलोंमें सञ्चालकके सम्बन्धकी कितनी अपूर्ण, विकृत भावना उठी और उसने उसे पानेके लिए कितने हास्यास्पद प्रयास किये। प्रश्न यह है कि यह भावना उठे कैसे ? प्रयास प्रारम्भ कैसे हो ?

आपने सम्भव है कहीं पढ़ा हो कि हजरत मूसा कहीं जा रहे थे। उन्होंने एक पत्थरपर बैठकर एक अनपढ़ गड़रियेको प्रार्थना करते सुना। वह कह रहा था—'ऐ खुदा ! तू मुझे मिल जाय तो मैं तेरी दाढ़ीमें कंघी कर दूँ। तेरे केशोंसे जुएँ निकाल दूँ।'

'क्या कुफ्र बकता है ?' मूसाने गुस्सेसे उस गड़रियेको डाँट दिया और वह बेचारा डरकर चुप भी हो गया; किन्तु जब मूसा इबादत करने बैठे तो ध्यानमें उनपर डाँट पड़ी। उन्होंने अपने भीतर उस सर्वेशके शब्द सुने—'मूसा ! मैंने तुझे लोगोंको मेरे पास लानेको भेजा है या जो मेरे पास आ रहे हैं, उन्हें दूर हटानेको ? उस गड़रियेसे माफी माँग !'

तात्पर्य यह कि उस नियन्ताका चिन्तन किस प्रकार प्रारम्भ हुआ और किस रूपमें चल रहा है, इसकी महत्ता नहीं है। महत्ता इसकी है कि वह प्रयास चल रहा है। प्रारम्भ हो गया है।

अतः प्रश्न यह महत्वका है कि उस सर्वेशके सम्बन्धमें जिज्ञासा कैसे उठे ? प्रयत्न कैसे प्रारम्भ हो।

मनुष्यका बालक माताके पेटसे कुछ सीखकर नहीं आया करता। उसे माताका स्तन भी मुखमें लेना सिखलाना पड़ता है। अपने नित्य व्यवहारकी बातें—चलना और बोलना भी उसे दूसरोंके द्वारा ही सिखलाया जाता है। जब प्रत्यक्ष और स्थूल शरीरके उपयोगकी बातें उसे दूसरोंसे सीखनी पड़ती हैं तो परमात्मा जो अदृश्य है, भले साक्षात् अपरोक्ष आत्मा

हो; किन्तु उसकी ओर स्वतः ध्यान जाना सम्भव नहीं है और उसको जानने, पानेका प्रयत्न तो दूसरेकी शिक्षा, प्रेरणाके बिना प्रारम्भ हो ही नहीं सकता।

मति कीरति गति भूति भलाई।
जो जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ।
लोकहु वेद न आन उपाऊ॥

सीखना दूसरेसे ही पड़ता है; किन्तु सीखनेकी बात आते ही कई बातें ध्यान देनेकी हो जाती हैं। सामान्य बातोंको भी किसीसे सीखते समय देखना पड़ता है—

१. वह उस विषयको जानता हो। उत्साहमें अनेक लोग दूसरोंको कुछ बतलाने लगते हैं; किन्तु उन्हें स्वयं उस विषयका ज्ञान नहीं होता। भारतमें तो किसीके कोई रोग होते ही दवा बतानेवाले सब बन जाते हैं। ऐसोंकी शिक्षा मानकर तो व्यक्ति भटक ही जायगा।

२. जिससे कुछ सीखना है, उसकी हमारे प्रति सहानुभूति हो। अन्यथा वह पूरी बात समझायेगा या नहीं, इसमें सन्देह रहेगा।

३. वह ईमानदार हो। धूर्त लोग दूसरोंको अकारण भी भटकाकर प्रसन्न होते हैं।

४. उस कार्यको हमसे करानेमें उसका कोई स्वार्थ न हो। अन्यथा वह अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिए प्रेरित कर सकता है।

५. वह उदार हो और सरल हो।

अब ईश्वर या मोक्ष जैसे अप्रत्यक्ष विषयमें जो अनुभवी होगा, उदार होगा, निःस्वार्थ होगा, वह महापुरुष होगा या नहीं ?

सुर नर मुनि सबकी यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम तुम्हार सेवक असुरारी॥

इसीलिए कहा गया है—

महत्संगो दुर्लभोऽगम्यो अमोघश्च ।'

—ना० भ० स० ३९

महापुरुषका मिलना दुर्लभ है। मिलनेपर भी उसे पहचान पाना बहुत कठिन है; किन्तु पहचान हो जाय तो उसका मिलना व्यर्थ नहीं जाता ।

बात सवा सोलहआने (सवा सौ पैसा) सच है कि महापुरुष मिलना दुर्लभ है। वैसे आज भारतमें लगभग तीन सौ अवतार हैं (वे स्वयं या उनके शिष्य उन्हें अवतार कहते हैं।) लेकिन उनमें कोई श्रीराम नहीं है। सब कल्कि या कृष्ण कहलाते हैं। तत्त्वज्ञानी,ब्रह्म साक्षात्कार सम्पन्न, भगवत्प्राप्त लोगोंकी तो गली-गली भीड़ है। ग्रामोंकी बात नहीं करता; किन्तु कोई अभागा नगर ऐसा हुआ भी तो उसमें उसे कृतार्थ करने ऐसे जगत्पावन महापुरुष कथावाचक या साधु वेशमें पधारते ही रहते हैं। यह दूसरी बात है कि उनके सम्पर्कमें आकर कल्याण होता है या केवल वे धन तथा आत्म-समर्पणकी सेवा ही स्वीकार करनेके व्रती हैं।

उनकी तो मान्यता है—घोषणा है कि उन्होंने आपकी सेवा स्वीकारकी, इसीसे आप कृतार्थ हो गये। अब आप इसे स्वीकार न कर सकें तो उनका दोष ?

यहाँ एक कसौटी है; किन्तु दो टूक बात कि किसीको कसौटी प्रिय नहीं होती। अतः वे स्वयम्भू अवतार और महापुरुष तो इससे भड़केंगे जैसे भैंस भड़कती है लाल कपड़ेसे। भले उनके कपड़े लाल ही हों।

कसौटी क्या ? यह समझलें कि परमार्थका पथ अन्तर्मुख होनेका पथ है। जो किञ्चित् भी आपको बहिर्मुख करता है, वह परमार्थका पण्डित होना तो दूर—उसका 'क' 'ख' भी नहीं जानता। फिर भले वह शास्त्रोंका महामहाविद्वान हो और उनकी अद्भुत व्याख्या करता हो।

दूसरी बात—जिसे आपसे कोई भौतिक सुख-सामग्री, सेवा चाहिये, प्रशंसा ही चाहिये, वह किसी वेशमें हो, कैसा भी विद्ववान हो, कितना भी प्रसिद्ध हो, महापुरुष होना तो दूर, अच्छा साधक भी नहीं है। क्योंकि—

मोर दास कहाइ नर आसा ।
करइ त कहहु कहाँ विस्वासा ॥

महापुरुष वह है जो अपने सम्पर्कमें आनेवालेका केवल हित देखता है। उससे अपना कोई स्वार्थ सधेगा या नहीं, अपनी कोई सेवा होगी या नहीं, इसपर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती। उसकी दृष्टि सामनेवालेका ही हित देखती है। ऐसे ही महापुरुषके लिए कहा गया—

भगति भगत भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक ।

देवर्षि नारदने भक्तिसूत्रमें कह दिया—

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् । ४१.

वह भगवानको पाकर उनसे अभिन्न हो गया है। जो शील स्वभाव भगवानका, वही उसका। उसका अपना सुख-स्वार्थ कुछ है भी तो वह उसके भगवानके हाथमें सुरक्षित है। वह भगवानके समान ही अकारण कृपालु, सर्व-भूत हितरत, सहज-उदार है।

ऐसा सचमुचका महापुरुष आजके भगवानके अवतारों और गली-गली भटकनेवाले परमतत्त्वोंकी भीड़में कैसे पाया जाय ?

लभ्यतेऽपि **तत्कृपयैव । ना० भ० सू०** ४०

देवर्षि नारदका कहना है कि ऐसे महापुरुष भगवानकी कृपा होनेपर ही प्राप्त होते हैं; क्योंकि उनकी प्राप्ति और भगवत्प्राप्ति दो वस्तु नहीं हुआ करती। वे मिले तो भगवान मिले ही हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीका मत इससे भिन्न नहीं है। वे कहते हैं—

जब द्रवहिं दीनदयाल राघव—
साधु - संगति पाइये ॥

सन्तोंकी वाणियोंमें, शास्त्रोंमें भरी पड़ी है सन्तोंकी और सत्संगकी महिमा—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ॥

लेकिन सत्संग तो तब मिले जब 'दीनदयाल राघव' द्रवित हों। तब क्या वे आजकल बहुत कठोर हो गये हैं? जैसे शीतकालमें पर्वत-शिखरोंका हिम हो जाता है। अथवा अब वे कृपा-कृपण हो गये हैं?

बिहारीने तो कह ही दिया—'तुम जगत्पति हो, अतः लगता है कि जगतकी वायु तुमको भी लग गयी है।'

'तुमहू लागी जगतपति जग जीवन जग वाय।'

लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। त्रुटि अपनी है—हम उनकी कृपाकी अनवरत होती वर्षा धारासे दूर खड़े हैं। अतः उस धारामें कैसे उतरें, यह बात अब आगे विचार करेंगे।



चिन्तन-सरणि—

१. **सतसंगति मुद मंगल मूला।**
सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥

श्रीराम चरितमानसकी इस अर्धालीने थोड़ेमें बहुत तथ्य कह दिया है। इसपर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है, जबकि यह बहुत महत्वपूर्ण है।

'सोइ फल सिधि' सत्संग ही फलरूपा सफलता है। रस—आनन्द फलसे प्राप्त होता है और 'रसो वै सः' रस तो परमात्मा है। अतः आप ज्ञान कहें या भक्ति, इनकी प्राप्ति होती है सत्संगसे—केवल सत्संगसे ही।

२. **'सब साधन फूला।'**

दूसरे सब साधन पुष्प हैं। जप, तप, पूजा, पाठ, समाधि, ध्यान, यज्ञ, अर्चा आदि सब साधन पुष्प हैं।

पुष्पसे सुगन्धि मिलती है। साधनसे सुयश मिलेगा। साधन होगा तो लोगोंका आकर्षण बढ़ेगा। जनश्रद्धा, सम्मान मिलेगा। कहीं साधनसे कोई सिद्धि-चमत्कार भी आ गया तो पूछना ही क्या। तब तो सिद्धिसे प्रसिद्धि, प्रसिद्धिसे पूजा और पूजासे पतन, यह क्रम बना-बनाया है।

३. आवश्यक नहीं है कि सब फूलोंमें फल लगें ही। अधिकांश पुष्प निष्फल होते हैं। उनमें फल लगता ही नहीं। जो फल देनेवाले फूल हैं, उनमें भी वहुत अधिक विना फल दिये झड़ जाते हैं।

जब कोई साधन करने लगता है तो अनेक ऐसे साधन हैं जो सत्संगका अवसर ही नहीं देते। साधक अत्यन्त एकान्तसेवी हो जाता है। जबकि एकान्तमें मन भले एकाग्र हो और समाधि लग जाय; किन्तु एकान्तसे न बुद्धिका परिमार्जन होता, न नवीन जानकारी मिलती और न नवीन प्रोत्साहन प्राप्त होता। उलटे कोई भ्रांत धारणा हुई तो एकान्त उसे दृढ़ करता है।

जिन साधनोंमें अत्यन्त एकान्त आवश्यक नहीं है, उनमें भी लगनेपर जब रसानुभव होने लगता है तो सत्संग छूट जाता है। अधिकांश लोग रसानुभवको बहुत बड़ी बात मानते हैं, जबकि यह भी विघ्न ही है। रसानुभव अपनेमें पूर्णत्वका आभास देकर उत्कण्ठाको, लगनकी तीव्रताको समाप्त कर देता है।

४. प्रमाणकी बात पहलेकी जानी चाहिये। सनकादि कुमार, देवर्षि नारद, श्रीहनुमानजी अत्यन्त सत्संग-व्यसनी हैं। क्यों हैं? इनमें ज्ञानकी, भक्तिकी, साधनकी कमी है? इनको कुछ जानना शेष है? इनका मन ध्यान, चिन्तनमें लगता नहीं? अन्ततः कारण क्या है कि ये सत्संगके अत्यन्त व्यसनी हैं? सत्संग सुलभ हो तो इन्हें साधन-भजन कुछ नहीं सूझा करता।

५. 'भगवत्प्राप्ति हो जाय तब क्या होगा?' नये साधकने एक सन्तसे पूछा।

सन्तने कहा—'भगवत्प्राप्ति हो जाय, इसीकी चिन्ता करो। इसीके लिए प्रयत्न करो। भगवान मिल जायँ तो वे क्या करेंगे, इसकी चिन्ता मत करो। उनकी जो मर्जी होगी, वह करेंगे।'

सन्तकी शालीनता कि उन्होंने नहीं कहा—'तुम तो भगवत्प्राप्तिके पश्चात् भी अपनापन बचाये रखना चाहते हो और भगवान क्या करें, क्या न करें यह अभीसे सोचनेमें लगे हो। भगवानको अपनी इच्छानुसार चलाना चाहते हो। तुम्हें भगवत्प्राप्ति होगी कैसे ? भगवत्प्राप्ति होती है सम्पूर्ण समर्पणसे। भगवत्प्राप्ति होती है जब 'मैं' को सर्वथा दे दिया जाता है।'

६. 'नाम जप तो कर रहा हूँ। भगवान मिलेंगे ?' एकने नम्रतापूर्वक ही पूछा।

सन्त हँसे—'नारायण ! तुम किसी रूपको तो भगवान मानते हो और नामको भगवान मानते ही नहीं हो। तुम्हें भगवन्नाम प्राप्त है तो भगवत्प्राप्ति तो है। प्राप्तको अप्राप्त मानकर दुःखी रहना ही अविद्या है।'

७. ज्ञानका साक्षात् साधन है श्रवण। भक्तिका प्रारम्भ होता है श्रवणसे। 'प्रथम भगति संतन कर संगा।'

ब्रह्माभ्यास क्या है ?

'परस्परं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।'

भक्ति क्या है ?

उन परम प्रियतमका ही चिन्तन, उनकी ही चर्चा श्रवणकी निरन्तर बढ़ती प्यास।

इसलिए परम फल तो सत्संग ही हुआ। सत्संग ही 'मुद मंगल मूला' है। परमानन्द सत्संग और परम मंगलायतन सत्संग।



तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः—

आप यदि बहुत साधन करके योग-सिद्धि प्राप्त भी करलें तो भी बहुत छोटी सीमा तक संसारको प्रभावित कर सकेंगे। एक चमत्कारी महात्मा दिवंगत सेठ श्रीजयदयाल गोयन्दकाके पास स्वर्गाश्रम (हृषीकेश) पहुँचे। उन्होंने गंगाजीसे एक लोटा रेत मँगवायी और उसे चीनीमें परिवर्तित कर दिया।

सेठजीने पूछा—'आप यहाँसे गंगासागरतक गंगा किनारेकी सब रेतकी चीनी बना दे सकते हैं?'

उन महात्माको अस्वीकार करना पड़ा। उन्होंने बतलाया—'मैं बोरे दो बोरे रेतको तो चीनी बना दे सकता हूँ; किन्तु किसी एक स्थानपर गंगा किनारे कुछ गजोंकी चौड़ाईमें पड़ी पूरी रेतको भी चीनी नहीं बना सकता।'

सेठजीने कह दिया—'मेरी रुचि चमत्कारोंमें नहीं है। देशकी चीनी मिलें बहुत अधिक चीनी बनाती हैं।'

तात्पर्य यह है कि संसारके पदार्थोंके बाहरी रूपमें कोई भी सिद्ध बहुत छोटी सीमातक ही परिवर्तन कर सकता है।

हमारे-आपके शरीर और अन्तःकरणके क्षेत्रमें जो प्राकृतिक पाञ्च-भौतिक भाग है, उसका पूरा नियन्त्रण अथवा परिवर्तन हमारे आपके हाथमें नहीं है। नशेका, दवाका, इंजेक्शनोंका प्रभाव जितना मन-मस्तिष्कपर पड़ता है, मन-मस्तिष्कका वह भाग भौतिक ही है। भौतिक न होता तो उसपर भौतिक तत्त्वका प्रभाव नहीं पड़ता।

भौतिक संसारमें—भौतिक पदार्थोंको हम बहुत छोटी सीमातक ही प्रभावित कर पाते हैं और यह भी हमारा भ्रम ही होता है। जगन्नियन्ता ही जितनी क्रिया—जितना परिवर्तन हमसे करा लेना चाहता है, हम उतना ही करते हैं।

मनुष्य भले मोक्ष-पुरुषार्थमें—अन्तर्मुख होनेमें स्वतन्त्र हो; किन्तु इस

क्षेत्रमें भी सफल होनेके लिए भगवत्कृपा अत्यन्त आवश्यक है। अन्तःकरण स्वयं भौतिक तत्त्व है, अतः समष्टि-नियन्ताके अनुग्रहके बिना वह शुद्ध नहीं हो सकता। इसीलिए अद्वैत वेदान्तके तत्त्वज्ञानके लिए ईश्वरानुग्रहको अत्यन्त अनिवार्य माना गया।

भक्तिका वर्णन करते हुए श्रीरामचरितमानसमें कहा गया—

'प्रथम भगति संतन कर संगा।'

प्रथम भक्ति ही सत्संग है। 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः' का क्रम माननेपर भी श्रवण तो किसीके द्वारा ही किया जायगा और भगवद् नाम-गुण-लीला-माहात्म्यका श्रवण हो या ब्रह्मतत्त्वका श्रवण हो, किसी दुरात्मासे तो होगा नहीं। श्रवण तो महात्मासे ही प्राप्त होगा।

महात्माकी—सन्तकी प्राप्ति होती है भगवत्कृपासे। अतः यहाँ भी भगवत्कृपा ही मुख्य हो गयी।

राम भगति अनुपम सुख मूला।
मिलइ जो संत होंहि अनुकूला।

लेकिन सन्त मिलेंगे तब उनके अनुकूल होनेकी बात उठेगी। सन्त मिलेंगे ही भगवानकी कृपा होनेपर। अतएव भगवत्कृपा कैसे प्राप्त की जाय?

भगवान कृपामय, करुणासागर, अनन्त दयार्णव कहे जाते हैं। अतएव उनकी कृपा किसीपर नहीं भी है, यह कहते बनता नहीं; किन्तु यह भी प्रत्यक्ष है कि उन दयामयकी दया अपनेपर हुई नहीं। हुई होती तो अवश्य सन्त मिले होते और सन्त मिले होते तो भगवानके श्रीचरणोंमें प्रीति हो गयी होती।

भगवानकी अहैतुकी कृपा सदा, सब समय, सर्वत्र सबपर है। यह बात शास्त्र और सन्त सब कहते हैं। तब अवश्य ऐसा कोई कारण होना चाहिये जिससे हम उस कृपाके लाभसे वञ्चित हैं।

सबसे पहली बात—हम भगवत्कृपाकी ओर उन्मुख नहीं हैं। रेडियोके स्टेशनोंसे तो प्रसारण होता ही रहता है; किन्तु आप अपने रेडियो यन्त्रको बन्द रखेंगे तो आपको कोई प्रसारण सुनायी पड़ेगा? प्रसारण सुननेके लिए अपने यन्त्रको खोलकर उसका सम्बन्ध किसी स्टेशनसे बनाना पड़ता है।

हमारा हृदय ही हमारा रेडियो यन्त्र है; किन्तु इसे तो हमने संसारके अनुभवोंको ग्रहण करनेमें लगा रखा है। संसारके अनुभवोंकी उपेक्षा करके इसे भगवान और उनकी कृपाको ग्रहण करनेके लिए उन्मुख किया जाय तो यह उस अनन्त कृपामयकी कृपाका ग्रहण करने लगे।

किसने हमारे साथ क्या किया—इस प्रकार हम रात-दिन संसारके स्मरणमें चित्त लगाये रहते हैं। इस प्रकारके चिन्तनसे राग-द्वेष एकत्र करते और बढ़ाते रहते हैं। आप कितने समय यह सोचते हैं कि भगवानने आपपर कब कितनी कृपाकी ? अथवा भगवत्कृपा की आप कब प्रतीक्षा करते हैं ?

ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसपर भगवानकी कृपा न हो। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो समझदार हो— पागल या शिशु न हो और उसने जीवनमें कभी भगवत्कृपाका स्पर्श न पाया हो। उसे भगवत्कृपाका—ईश्वरीय सहायताका अनुभव कई-कई बार हुआ है। भले वह पापी या अनीश्वरवादी ही हो। लेकिन वह उसे संयोग मान लेता है और भूल जाता है।

जो ऐसी भगवत्कृपाको संयोग मानकर भूल नहीं जाता, उसे स्मरण रखता है, कृपाको बार-बार देखता है, उसपर भगवत्कृपाका बार-बार अवतरण होता है। जो जितना अधिक उस कृपाको अपनेपर अनुभव करता है, उसपर कृपाका अवतरण उतना अधिक होता है।

अब दूसरी बात—आप भगवत्कृपा मानते किसे हो ? कृपा कोई अव्यक्त तत्त्व तो है नहीं। कृपाका अवतरण किसी-न-किसी रूपमें होता है। आप धन मिलनेको, लौकिक सफलताको, यश या पदकी प्राप्तिको, पुत्र होनेको अथवा पुत्रकी सफलताको, रोग मिटनेको, स्वस्थ रहनेको अथवा ऐसी ही किसी बातको भगवत्कृपा मानते हो ? क्या हो आपके साथ तो उसे आप भगवानकी कृपा मानोगे ?

हानि-लाभ जीवन-मरन जस-अपजस विधि हाथ।

धन मिलना या लुट जाना, खोजाना, घाटा होना या लाभ होना प्रारब्धानुसार होता है। शरीरका स्वस्थ रहना या रोगी होना, रोगका मिटना या बढ़ना प्रारब्धपर निर्भर है। विद्या मिलना–न मिलना, पद-प्रतिष्ठा पानेमें सफलता या असफलता प्रारब्धानुसार होगी। पुत्र होना या

स्वयं अथवा स्वजनोंका मरण प्रारब्धके विधानानुकूल होगा। आपके, आपके स्वजनोंके, मित्रों-परिचितोंके और शत्रुओंके भी भौतिक जीवनका ह्रास-उल्लास उन उनके प्रारब्धके अनुसार होता है। इसमें यदि भगवानकी कृपा या अकृपा मानते हो तो आपको कृपाकी पहचान नहीं है। आप भगवत्कृपाको पहचानते ही नहीं हो, तो उसे देख कैसे सकते हो।

ब्रह्माजीकी बात ध्यानसे सुनिये—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो,
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विधन् नमस्ते,
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

—भागवत १०.१४.८

जीवनमें अपने प्रारब्धसे प्राप्त सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश, जन्म-मरण, संयोग-वियोगको जो सन्तोषपूर्वक भोगता रहता है, (भोगते तो सभी हैं; क्योंकि भोगना तो पड़ता ही है; किन्तु रोते-झीखते भोगते हैं या गर्व करते, डींग हाँकते भोगते हैं) जो उपलब्ध भोगोंमे क्षुब्ध नहीं होता, उनमें न दुःखी होता और न गर्वित होता, जीवनमें वह अपने शरीरसे, वाणीसे,मनसे भगवानके प्रति विनम्र और कृतज्ञ बना रहता है तथा अपनेपर भगवत्कृपा है, यह बराबर भली प्रकार देखता–समझता रहता है, उसे आवागमनके चक्रसे मुक्त होनेके लिए दूसरा कुछ करना नहीं है। मोक्षका तो वह निश्चित अधिकारी है। मोक्ष उसका स्वत्व है।

यहाँ अनुकम्पाकी समीक्षा—भली प्रकार देखना ही नहीं कहा गया। कहा गया 'सुसमीक्षा' अर्थात् भली प्रकार और सर्वदा, सब दशामें भगवत्कृपाका अनुभव करता रहे, यह कहा गया है।

भगवत्कृपाका कोई स्वरूप यहाँ भी स्पष्ट नहीं किया गया। भगवत्कृपाका स्वरूप वृत्रासुरने स्पष्ट किया है—

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्,
पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो
यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः॥

—भागवत ६.११-२३

इन्द्र ! हमारे स्वामी जिन्हें अपना जन स्वीकार कर लेते हैं, उसके अर्थ, धर्म और काम (भोग) की प्राप्तिका प्रयासको नष्ट कर दिया करते हैं। जब अर्थ, धर्म या भोग-प्राप्तिका प्रयत्न असफल हो जाय तो उससे अपनेपर भगवत्कृपा हुई, यह अनुमान कर लेना चाहिये। ऐसी कृपा सबको नहीं प्राप्त होती। वे प्रभु तो अकिञ्चन गोचर हैं। जिसका उनके अतिरिक्त कहीं कोई और कुछ नहीं रह गया, उसे मिलते हैं। अतः जिसे मिलना चाहते हैं, अपनाना चाहते हैं, उसीपर ऐसी कृपा करते हैं। दूसरोंके लिए तो यह कृपा दुर्लभ है।

जव मन भगवानमें, भगवानके स्मरणमें लगे तो आप समझ सकते हैं कि आपपर भगवत्कृपा हुई।

जब नाम-जप या कीर्तन चले, भगवच्चरित पढ़ने-सुननेमें रुचि हो तब अपनेपर भगवत्कृपा समझनी चाहिये।

जब भगवानके पूजन-अर्चनमें, भगवानके महोत्सव मनानेमें उत्साह हो तब भगवानकी कृपा हुई।

जब कोई सन्त-सत्पुरुष मिले तो भगवानकी महती कृपा हुई। यदि ऐसे किसी सच्चे सन्त या साधककी सेवाका कुछ भी अवसर प्राप्त हुआ तब तो भगवानने स्वयं अपनी सेवाका सौभाग्य दिया।

यदि किसी सच्चे महापुरुषका सम्पर्क मिला, उनमें प्रीति हो गयी, उन्होंने अपना जन मान लिया तो जीवन धन्य-धन्य हो गया।

भगवत्कृपा हुई यदि आपको हानि होनेपर, अपमान होनेपर या किसी कारण शारीरिक या मानसिक बड़ा कष्ट होनेपर भी दुःख या क्षोभ नहीं हुआ। आपने उसे धैर्यसे सहन कर लिया।

भगवत्कृपा हुई यदि आप किसीके द्वारा उत्पीड़ित होनेपर, अपमानित होनेपर उससे बदला लेनेमें समर्थ होते हुए भी शान्त बने रह सके या उसके प्रति मधुर, प्रीतिवान बने रह सके।

भगवत्कृपा हुई यदि आप किसी अत्यन्त प्रियजनकी मृत्यु अथवा वियोगमें भी शोक-विह्वल न होकर शान्त चित्त रह सके।

भगवत्कृपा हुई यदि आपने जिसका उपकार किया था,जिससे आपको बहुत आशा थी, उसने भी विपत्तिमें आपकी सहायता नहीं की, आपसे मुख मोड़ लिया, आपकी बात नहीं सुनी और तब भी आप उससे रुष्ट नहीं हुए।

भगवत्कृपा हुई यदि आपने अपने शत्रुकी, अपनेको पीड़ा देनेवाले, भारी हानि करनेवाले, अपमान करनेवालेकी भी विपत्तिमें बिना माँगे आगे बढ़कर सहायताकी और अपनी इस उदारताको प्रकट करके उसे उपकृत करनेके अहङ्कारसे बचे रहे।

भगवत्कृपा हुई जब पद या धन पाकर भी आप असंयमी नहीं बने। या गर्वोन्मत्त होकर किसीका अपमान नहीं किया।

धन पाकर, पद पाकर, सम्मान पाकर भी संयम न खोना, गर्वोन्मत्त न होना, अपने पुराने परिचितों, सम्बन्धियों, उपकारियोंका उचित सम्मान करते रहना स्वभावमें रहे तो भगवत्कृपा है।

स्वभावमें संयम, तितीक्षा, सेवा,अनहङ्कार बना रहना भगवत्कृपा है।

काम, क्रोध, लोभ आदिके अवसर आनेपर भी इनसे बचे रहना, ईमानदारी, सत्य, सेवाको अपनाये रहना भगवत्कृपा है।

इन्द्रिय-संयम भगवत्कृपा है। मनकी शान्ति भगवत्कृपा है। सन्तोष भगवत्कृपा है। त्याग-वृत्ति भगवत्कृपा है।

मनमें वैराग्य, भोगोंसे उदासीनता, बहुधन्धीपने तथा भीड़-भाड़से अरुचि होना भगवत्कृपा है।

साधन-भजनमें, सेवा-परोपकारमें, सत्संग-भगवत्कथामें प्रीति होना भगवत्कृपा है।

अपनी पद-प्रतिष्ठा, ख्याति-सम्मानसे अरुचि होना महती भगवत्कृपा है।

सबसे बड़ी भगवत्कृपा है भगवानके साथ किसी भी सम्बन्धसे आत्मीयता हो जाना अथवा किसी सच्चे भगवद्भक्तमें अनुरक्ति हो जाना।

इस प्रकार भगवत्कृपाके स्वरूपको ठीक-ठीक पहचान कर अपनेपर भगवत्कृपा है, यह जितना अधिक आप अनुभव करेंगे, उतनी ही अधिक भगवत्कृपाका आपपर अवतरण बढ़ता जायगा।

सांसारिक सफलता, सुरक्षा आदिमें भगवत्कृपा मानना तो कृपाके प्रवाहको भटका देना है। यद्यपि सामान्य संसारासक्त प्राणी जो सम्मान-प्राप्ति, धनादि-लाभ, विपत्ति-नाशको ही भगवत्कृपा मानते हैं, उनपर उनके आतुर होनेपर ऐसी कृपा भी भगवान करते ही हैं। अधिकांश लोगोंको ऐसी ही कृपाका अनुभव होता है; किन्तु सांसारिक लाभ तथा सुरक्षाकी आशा-भावना भगवत्कृपाके महान लाभ भगवत्प्रेम तथा भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित ही कर देता है।



चिन्तन-सरणि—

आपके चिन्तनकी सरणि क्या है भगवत्कृपाके सम्बन्धमें ?

मैं उन दिनों 'कल्याण' (गोरखपुर) के सम्पादकीय परिवारमें था। गीतावाटिकामें ही रहता था। प्रातःकाल एक घण्टे श्रीभाईजी (नित्य लीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) का सत्संग-प्रवचन बीच-बीचमें चलता था। जब कार्याधिक्य होता या स्वास्थ्य अनुकूल नहीं रहता, यह क्रम भंग हो जाया करता था।

ऐसे सत्संग-प्रवचनोंमें ही किसी अंग्रेजी पत्रिकासे एक उदाहरण श्रीभाईजीने सुनाया। मैं पत्रिकाका तथा व्यक्तियोंका नाम भूल गया हूँ।

योरोपके किसी देशके किसी सज्जनने नियम बनाया—'जब भगवत्कृपाका स्मरण होगा, मैं अपनी दानपेटीमें एक छोटा सिक्का डालूंगा।'

अपने घरपर उन्होंने एक दानपेटिका रख छोड़ी थी। उसमें पड़े सिक्के वे निश्चित तारीखको उपयुक्त लोगों या संस्थाओंको दे देते थे। काश धर्मप्राण कहे जानेवाले भारतके धर्मप्रेमी परिवार भी ऐसी पेटिका रखने लगते और उसमें दैनिक न सही, उत्सव-पर्व तथा अवसर विशेषपर कुछ डालनेका नियम बना लेते।

महत्त्वकी बात यह कि उन सज्जनको कब-कब उस पेटिकामें सिक्का डालना पड़ा—

१. एक दिन वे टहलकर लौटे तो उनकी मेजपर पड़े कागज भीग गये थे। टहलने जानेसे पूर्व वे खिड़की बन्द करना भूल गये थे और वर्षा हो चुकी थी बीचमें। उन्होंने पेटीमें सिक्का डाला—'प्रभुने सावधान किया, ऐसा प्रमाद मत किया करो।'

२. एक दिन कहींसे लौटे तो देखा कि उनके मकानका एक छज्जा गिर पड़ा है और उससे दबकर उनका प्यारा कुत्ता मर गया है। उन्होंने पेटीमें सिक्का डाला—'प्रभुकी महती कृपा कि घरका कोई मनुष्य नहीं मरा। मकानकी मरम्मत पहले मैंने नहीं करायी, यह भूल सूचित कर दी प्रभुने।'

३. अचानक रातमें बहुत तेज हिमपात हुआ। सबेरे उठे तो अत्यन्त परिश्रमसे लगाया उनका बगीचा चौपट हो गया था। सब पौधे बरफसे झुलस चुके थे। उन्होंने खिड़कीसे बाहर देखा और पहला काम किया कि दानपेटिकामें सिक्का डाला—'प्रभुने फिर परिश्रम करनेका अवसर दिया। मुझे।'

श्रीनरसी मेहताने पत्नीकी मृत्यु हो जानेपर गाया—

भली भई भागी जंजाल।
सुखी सुमिरसूं श्रीगोपाल॥

मेरे साथ तो कन्हाईका जन्मसे अतिशय पक्षपात है। मुझे उसने कहीं और किसीका न होने दिया, न कहीं अन्यत्र लगने दिया।

कन्हाईका पक्षपात तो आपके साथ भी है; किन्तु आप इसे समझते हैं ? आप अनुभव करते हैं यह ? इसे देखते हैं ?

भगवत्कृपा देखनेकी आपकी सरणि-पद्धति क्या है, इसीकी महत्ता है। इसीपर सब कुछ निर्भर है।

एकका पुत्र मर गया था। वह रोती-रोती एक सन्तके पास पहुँची तो देखा कि वे पहलेसे सिर पीटकर बड़े जोर-जोरसे रो रहे हैं। उस माताको आश्चर्य हुआ। अपना दुःख भूल गयी। पूछने लगी—'महाराज, आप इस प्रकार क्यों रो रहे हैं ?'

'रोऊँ नहीं तो हँसूं ?' सन्त बिगड़े—'मेरी हँड़िया फूट गयी आज।'

'महाराज ! हँड़िया तो मिट्टीकी थी। उसे एक दिन फूटना ही था। दूसरी आ जायगी।' उसने समझाना चाहा।

'तेरा बेटा लोहेका बना था या सोनेका ? वह अमर होकर आया था ?' सन्त वैसे ही बिगड़े स्वरमें बोले—'संसारमें कोई लड़के नहीं रहे ? तू क्यों एक गोद नहीं ले लेती ?'

हँड़िया फूटी तो नयी आवेगी यह भगवत्कृपा और पुत्र मरा तो भगवत्कृपा नहीं, यह तो कृपा-देखनेकी कोई उचित प्रणाली नहीं है।



सखापरम पुरुषारथ एहू-

'आपका इष्ट क्या है ?' मैंने एक परिचित नेतासे पूछा।

'क्यों ? आप जानते तो हैं कि मेरे इष्ट श्रीरघुनाथजी हैं।' उन्होंने थोड़े चौंकनेके भावसे मेरी ओर देखते कहा—'मैं जब बहुत व्यस्त नहीं रहता, श्रीरामचरितमानसका पाठ अवश्य करता हूँ।'

'इस समय आपका सबसे बड़ा अभीष्ट क्या है ?' मैंने दूसरा प्रश्न कर दिया।

'चुनाव जीतना।' उन्होंने स्पष्ट कहा—'अभी तो मैं अपना पूरा ध्यान इसी ओर लगा रहा हूँ।'

उस समय चुनाव होनेवाले थे। वे एक विशिष्ठ दलका टिकट प्राप्त कर चुके थे। नामाङ्कन पत्र अभी भरा नहीं गया था।

उनकी चर्चा मैंने इस कारणकी है कि इष्ट और अभीष्टका यह अन्तर आपके भी मनमें हो सकता है। इस अन्तरको ठीक समझ लेना चाहिये।

आप जिसकी पूजा करते हो या करना चाहते हो, वह इष्ट है आपका, यदि ऐसा मानते हो तो बहुत भ्रममें हो। वह आपका पूज्य हो सकता है, आराध्य भी हो सकता है; किन्तु इष्ट हुआ है या नहीं, यह बात बहुत सन्देहकी है।

आपका अभीष्ट क्या है—आप क्या पाना या बनना चाहते हो, यह आप सरलतासे समझ ले सकते हो। यह अभीष्ट प्रायः बदलता रहता है, सामयिक होता है। कभी-कभी तो बहुत छोटा होता है। एक छात्रने कहा—'आज तो मुझे इतना ही अभीष्ट है कि किसी प्रकार परीक्षाकी फीस दाखिल हो जाय।'

चाह—कामना और अभीष्टमें बहुत थोड़ा अन्तर है। कामना दुर्बल हो सकती है। पूरी हो जाय तो अच्छा, न भी हो तो चलेगा; किन्तु अभीष्ट

वह जिसे आप पूरा करने, प्राप्त करनेको बहुत अधिक उत्सुक हो। कुछ भी हो, कैसे भी हो—उसे होना ही चाहिये।

ऐसे अभीष्ट कभी कुछ होते हैं और कभी कुछ। इस समय जो अभीष्ट है, वह थोड़ी देर पश्चात् नहीं रहेगा। भूख लगी थी तो भोजन कर लिया तो वह अब अभीष्ट नहीं रहा। कभी एकान्तमें पढ़ना अभीष्ट था; किन्तु कोई अन्य अधिक आवश्यक या रोचक कार्य सामने आगया तो वह अभीष्ट हो गया।

इष्ट वह जो जीवनमें कभी बदलता नहीं। इष्ट वह जिसके लिए आवश्यक होनेपर बड़े-से-बड़ा अभीष्ट त्यागा जा सकता हो। इष्ट वह जिसके लिए अपने सर्वस्वकी बलि दी जा सकती हो। अब सोच देखिये कि अभी आपका कोई इष्ट बना भी है या नहीं ?

अभीष्ट होता है लोकमें—सांसारिक जीवनमें यहाँ कोई सुख-सुविधा, पद-प्रतिष्ठा, जन-धनकी प्राप्तिके लिए अथवा किसी असुविधा, रोग,उलझन, शत्रुको मिटानेके लिए। लेकिन इष्ट तो ऐसा होता है कि लोक-परलोक दोनों उसके हाथोंमें छोड़ दिया जाता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

बनै तो रघुबरतें बनै, बिगरै तो भरपूर।
तुलसी औरनितें बनै, वा बनिबे में धूर ॥

यह निष्ठा, यह निर्भरता इष्ट चाहता है और इष्ट होता है, तब आप परमार्थके पथिक बनते हो।

परमार्थ तो परम पुरुषार्थ है। पुरुषका अर्थ अर्थात् पुरुषका सचमुच अभीष्ट पुरुषार्थ कहा जाता है। लेकिन यदि गाय आपके खूँटेसे बँधी है तो चारा उसका पुरुषार्थ बन सकता है ? चारा तो उसे आप देंगे तब मिलेगा।

जिसे पानेमें हम समर्थ नहीं हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं, वह हमारा पुरुषार्थ होगा ? आप उसे भले चाहते रहो, वह आपका अर्थित—प्रार्थित होनेसे आपका पुरुषार्थ कह दिया जायगा, वह आपका अभीष्ट तो है; किन्तु यह

आपकी समझदारी है कि आप ऐसी वस्तु चाहते हो जिसे पानेमें समर्थ नहीं हो ?

राष्ट्रपतिका चुनाव होनेवाला था। उसी चुनावमें श्री वी० वी० गिरि राष्ट्रपति चुने गये थे। एक परिचित सज्जनने भी अपनेको उम्मीदवार बनाया। उन्होंने तर्क दिया था—'राष्ट्रपतिको कोई काम नहीं करना पड़ता। मुझमें कोई काम करनेकी न योग्यता है, न शक्ति, न साधन।' राष्ट्रपति पद उनका अभीष्ट था उस समय; किन्तु उसे उनका पुरुषार्थ आप कहेंगे ? उनकी तो जमानत भी लौट आयी; क्योंकि उनका कोई समर्थन, अनुमोदन करनेवाला ही नहीं मिला।

आप उनके प्रयत्नपर हस सकते हैं। तब भी उनके सब परिचित हँसते थे; किन्तु संसारके गिने-चुने लोगोंको छोड़ दें तो प्राय: सब ऐसे ही पुरुषार्थी हैं। वे ऐसा ही अभीष्ट बनाते हैं, जिसे पाना उनके हाथमें नहीं है।

'हानि-लाभ जीवन-मरन जस-अपजस विधि हाथ।'

यह जानते हुए भी आप अर्थ, धर्म या कामको पुरुषार्थ मानते हो तो यह आपकी समझदारी है ?

वैसे भी अर्थ और धर्म अपवाद रूप ही पुरुषार्थ होते हैं। केवल धनके लिए धन चाहना, कमाना—लेकिन आप ऐसे लोगोंको अवश्य जानते होगे या जान सकते हो जो धनसे कोई भोग नहीं भोगते। स्वयं ठीक न खाते, न पहनते। दरिद्रके समान रहते हैं और रात-दिन धन जुटानेमें लगे हैं। ऐसे ही लोग अर्थ पुरुषार्थी हैं।

समाजके अधिकांश लोग तो आवश्यक व्ययके लिए अथवा अपने किसी व्यसनको पूरा करनेके लिए धन चाहते हैं। ये लोग काम पुरुषार्थी हैं।

धर्म पुरुषार्थी—धर्मके लिए ही धर्म करनेवाले इस समय कोई संसारमें हैं या नहीं, पता नहीं; किन्तु ऐसे लोग हुए हैं। तप या दान उनको प्रिय था। दान या तपसे वे और कुछ नहीं चाहते थे। पुराणोंमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं। अत: धर्मको पुरुषार्थ मान लिया गया। अन्यथा जैसे धन भोग अथवा धर्मका साधन है, वैसे ही धर्म भी भोग (स्वर्गादि) का, धनका या मोक्षका साधन ही है।

इस प्रकार पुरुषार्थ मुख्य रूपमें केवल दो रह जाते हैं, काम और मोक्ष। इनमें काम पुरुषार्थ लौकिक है और मोक्ष पारलौकिक।

लेकिन कामको पुरुषार्थ बनाना वैसा ही है जैसे प्रथम वर्णित महोदय राष्ट्रपति बनना चाहते थे। भोग तो प्रारब्धके अनुसार ही मिलेगा। ईश्वरीय विधान जिसे जब जहाँ जैसे रखनेका है, उसे वैसे ही रहना होगा। इस क्षेत्रमें बहुसंख्या तो है, किन्तु समझदारी नहीं है। माया-मोहित मानव भोग प्राप्तिको व्याकुल है, दौड़-धूपमें लगा है, जबकि उसकी चिन्ता, उसके श्रमका कोई अर्थ इस क्षेत्रमें नहीं है।

ठीक पुरुषार्थ मोक्ष ही है। मोक्षका प्रयत्न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। यही मनुष्य योनिकी कर्म-स्वतन्त्रता है। इसीलिए कहा गया है—

पुमान् भवाब्धि न तरेत् स आत्महा।

—भागवत ११.२०.१७

जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मंद मति, आतमहन गति जाइ॥

—मानस

आत्महत्यामें क्या होता है? जीव तो अविनाशी है। उसे तो कोई मार नहीं सकता। केवल देहको—अपने शरीरको किसी प्रकार स्वयं नष्ट कर देना आत्महत्या कहा जाता है। ऐसा करनेसे मनुष्य जीवन और उसके उपयोगका सुअवसर नष्ट हो जाता है।

जो मनुष्य शरीर पाकर भी द्विपाद् पशु ही बना रहा, जिसने जीवनको अर्थ (धन) और काम (भोग) की चिन्ता—उपार्जनमें ही व्यतीत कर दिया, उसने तो पशुत्वमें ही जीवन बिताया। उसने अपनी स्वतन्त्रताका उपयोग ही नहीं किया। तब उसने वही तो किया जो आत्मघाती करता है? उसने अपनी स्वतन्त्रता—मनुष्यताको बिना उपयोग किये मृत्युको सौंप दिया।

अतएव पुरुषार्थ तो सच्चे अर्थमें मोक्ष ही है। दूसरे अर्थ, धर्म, काम तो भ्रमवश पुरुषार्थ बनाये जाते हैं। लेकिन एक परमपुरुषार्थ भी है—

सखा परम पुरुषारथ एहू ।
मन क्रम बचन राम पद नेहू ।। —मानस

बात जीवोंके परमाचार्य श्रीलक्ष्मणजीने कही है। वैष्णवाचार्य भगवद्भक्तिको पञ्चम पुरुषार्थ कहते हैं; किन्तु पाँचवें सवारके समान भक्तिका पुरुषार्थोंमें गौण गणना या बलात् प्रवेश कराना यह नहीं है। भक्ति परम पुरुषार्थ—पुरुषार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ है, यह बात ठीक समझ लेना चाहिए।

मोक्ष मुख्य पुरुषार्थ है; किन्तु मोक्षमें—यदि वह कैवल्य मोक्ष है तो उसमें होता क्या है ?

मरनेके पश्चात् जैसे शरीरके पाञ्च भौतिक तत्त्व (मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, आकाश) बिखर कर अपने-अपने तत्त्वोंमें मिल जाते हैं, वैसे ही मुक्त पुरुषका अन्तःकरण (सूक्ष्म शरीर) भी बिखर जाता है। कारण शरीर तो अविद्या है जो नष्ट हो गयी और चेतन कभी बद्ध था नहीं, वह जैसा था—सदा वैसा ही रहेगा।

आपने कभी सोचा है कि मरनेके बाद आपके शरीरका फिर कितना रूपान्तर होता है ? मरनेके बादकी बात तो छोड़ दीजिये, जीवनमें ही मल, मूत्र, कफ आदि जो शरीरसे निकलता है, उसमें कितने कीड़े पड़ते हैं, उन्हें कौन प्राणी खा लेते हैं, इसकी कभी आपने चिन्ताकी है ?

कोई कितना भी बड़ा महापुरुष हो; किन्तु उसके शरीरसे जो मल-मूत्रादि निकलता है, उसमें क्या कीड़े नहीं पड़ते ? मैं जानता हूँ कि लोग विशेष विशेष व्यक्तियोंके शरीरको दिव्य या चिन्मय मानते हैं, घोषित करते हैं; किन्तु इस शरीरमें रोग होते आप प्रत्यक्ष ही देखते हैं। आपको बड़ा भरोसा हो तो जिसपर हो, उसके मलको कहीं दो-चार दिन सुरक्षित रखकर देख लें कि उसकी क्या गति होती है। शरीरका भला क्या दिव्यत्व। वह गाड़ा जायगा तो उसमें कीड़े पड़ेंगे या नमक देकर गाड़ा गया हो तो गल जायगा। पानीमें डुबाया जाय तो जलचर खाकर अपने शरीरका भाग बना लेंगे और जला दिया जाय तो भी उसकी भस्म तृणादिकी खाद तो बनेगी ही।

शास्त्रोंने और प्राचीन महापुरुषोंने स्थूल शरीरको सुरक्षित करनेकी

चर्चा ही नहीं की । जैसे हम इस समय अपने मल-मूत्रकी चिन्ता नहीं करते, वैसे शरीर भी उसीका एक भाग है । उसकी चिन्ता मोह है, अज्ञान है ।

स्थूल शरीरकी बात छोड़ दीजिये । यह तो मलका ही एक रूप है; किन्तु सूक्ष्म शरीर ? मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और इन्द्रियाँ भी क्या मल रूप हैं और स्थूल शरीरके समान ही उपेक्षणीय हैं ?

ऐसा नहीं है । स्थूल शरीरके समान सूक्ष्म शरीर मलका परिपाक नहीं है । उसमें मल आता तो है; किन्तु वह बाहरसे आयी विकृति है । जैसे उज्ज्वल वस्त्र मैला हो जाता है तो साबुन आदिके ठीक उपयोगसे उसका मैल दूर किया जा सकता है, ऐसे ही साधनके द्वारा अन्तःकरण निर्मल किया जाता है ।

मलिन अन्तःकरणमें तो न तत्त्वज्ञानका उदय होता और न भगवद्भक्ति आती । अतः कोई तत्त्वज्ञानी या भगवत्प्राप्त महापुरुष है तो उसका अन्तःकरण निर्मल ही है, यह बात स्वतः सिद्ध है । ऐसे निर्मल अन्तःकरणको स्थूल शरीरके समान मरनेपर बिखर जानें,प्रकृतिमें मिलकर पुनः यथेच्छ परिणाम प्राप्त करनेको छोड़ देना उचित है या नहीं, यह आपके विचार करनेकी बात है ।

कैवल्य मोक्ष—अद्वैत तत्त्वज्ञानमें अन्तःकरणकी चिन्ताको स्थान नहीं है । अविद्या नाशके साथ अन्तःकरण बाधित हो गया । संसारके सब दृश्योंके साथ उसकी भी समान सत्ता-स्वप्नके समान प्रतीति मात्र रह गयी । अतः देह छूटनेपर वह भी स्थूल देहके समान बिखर ही जायगा ।

भक्तिके मार्गमें अन्तःकरणको बिखरने देनेको छोड़ा जा नहीं सकता । इसीलिए भक्तिके मार्गमें कैवल्य है ही नहीं । इस मार्गमें मोक्ष है— १. सालोक्य २. सारूप्य ३. सामीप्य ४. सार्ष्टि ५. सायुज्य ।

भगवानसे सायुज्य भी हो तो उनका केश, नखादि होकर ही तो रहेगा और भगवानके श्रीविग्रहका तो कोई भाग जड़ नहीं है । उनके दिव्य धाममें जो कुछ है, सब दिव्य है, चिन्मय है । सबमें भगवत्सांनिध्यका परमानन्द अनुभव करनेकी शक्ति है । संसारकी भाषामें कहें तो सबमें

अन्तःकरण और इन्द्रियाँ हैं; लेकिन भौतिक, विकारी, परिणामशील, क्षयिष्णु नहीं हैं।

मन-इन्द्रियादिका यह दिव्यीकरण भक्तिसे हुआ। इसीलिए भक्तिको परमपुरुषार्थ कहा गया। ज्ञानी और भक्त दोनोंका स्थूल शरीर तो बिखरेगा ही। स्थूल शरीर दिव्य नहीं बनेगा; किन्तु ज्ञानके मार्गमें जानेपर सूक्ष्म शरीर भी अन्तमें बिखर जायगा—छूट जायगा; किन्तु भक्तके सूक्ष्म शरीरका दिव्यीकरण हो जाता है। भगवत्प्राप्त महापुरुषका सूक्ष्म शरीर दिव्य-चिन्मय हो जाता है। सूक्ष्म शरीरके इस भागवतीय परिवर्तनके साथ ही वह भगल्लोक प्राप्त करता है।

सूक्ष्म शरीरमें ही सुख-दुःख, मानापमनादि होते हैं या स्थूलमें? अतः सूक्ष्म शरीरका दिव्योकरण हो गया तो फिर वह चाहे जिस स्थूल शरीरमें रहे—भगवानके साथ ही है। वह निर्द्वन्द्व है, परमानन्द-मग्न है। इसीलिए भक्त मोक्षकी चिन्ता त्याग कर कहता है—

जेहि जोनि जनमऊँ करमबस तहँ रामपद अनुरागऊँ।

उसकी माँग एक मात्र यह है—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम-जनम रति रामपद, यह बरदान न आन॥

जन्म-मरणके भयसे जो सर्वथा छुड़ा दे और उसमें रहते श्रीपरमानन्द रूप परमपद स्थायी कर दे, वह अन्तःकरणको ही दिव्य बना देनेवाली भक्ति परम-पुरुषार्थ तो है ही।

मोक्ष पुरुषार्थ, भक्ति परमपुरुषार्थ और अर्थ, धर्म, काम केवल पुरुषार्थाभास हैं, यह तथ्य समझमें आने योग्य है।



चिन्तन-सरणि—

१. मनुष्यके चिन्तन और आचरणका दोष यह है कि वह उसके पूर्व—पूर्वके अभ्यासोंसे प्रभावित होता है। क्योंकि अधिकांश मनुष्योंने वृक्ष, लतादि या पशु-पक्षियोंके जन्मोंके अनन्तर मनुष्य जन्म पाया है, उन्हें इस दो पैरके शरीरमें आनेपर भी इसमें मिली स्वतन्त्रताको समझना और उसके अनुरूप बनना नहीं आता है।

जैसे भारतको स्वाधीन हुए लम्बा समय बीत गया; किन्तु पराधीनताके समयका जो अभ्यास उच्च शिक्षित वर्गमें पड़ा, बह उसकी परम्परासे, उसकी सन्तानोंसे जा नहीं रहा है। वे अँग्रेजी जब नहीं भी बोलते हैं, तब भी अंग्रेजीमें ही सोचते हैं और वही वेश—आचार उन्हें प्रिय है। उनका वेश भारतीय भी बन जाय तो भी उनकी विचार पद्धति भारतीय कब बनेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। मध्यम और निम्न वर्ग तो उच्च वर्गका अनुकरण करता है।

२. मनुष्यका निर्माण प्रकृतिने भोग-परायण होनेके लिए नहीं किया है। अतः मनुष्यकी किसी भी इन्द्रियमें पशु-पक्षियों जितनी क्षमता नहीं दी है। मनुष्य कहाँ कबूतर या गीधके समान सूक्ष्मदर्शी या दूरदर्शी है। हमारी नासिका क्या कुत्ते अथवा चींटीके समान गन्ध सूंघ सकती है? एक नवजात कछुएका बच्चा भी मीलभर दूरके सरोवरकी दिशा जानकर उधर चल देता है और मनुष्य मरुस्थलमें कुछ गज दूर पानीतकका पता नहीं लगा पाता।

हमें प्रकृतिने कामचलाऊ—जीवन चल सके, इतने मात्रको इन्द्रियाँ दीं; किन्तु मनुष्यके पूर्वजन्मोंका अभ्यास उससे पशुत्व छूटने नहीं देता। वह स्वाद लोलुप बनता है या सुरभि लोलुप। कुत्ते अथवा शूकरके समान भोग लोलुप तो समाजमें भरे पड़े हैं।

३. बड़ी कठिनाईसे जब मनुष्यको कहीं सत्संग मिलता है या कोई सद्ग्रन्थ हाथ पड़ जाता है, तब भी यदि वह किसी दूसरी धुनमें न हुआ तो इनकी ओर ध्यान दे पाता है।

४. मनुष्यत्वको समझने, सम्हालनेमें ही अनेक जन्म लग जाते हैं। सामान्यतः मनुष्य बहुत साधारण ढङ्गसे देखादेखी या किसी बड़ी विपत्तिमें पड़कर अथवा किसी प्रबल कामनाकी पूर्तिके लिए देवाराधन, जप, तीर्थाटनादिमें लगता है।

इस ओर लगनेपर धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ता है और बुद्धिका परिष्कार होता है। अन्यथा विश्वके बहुत बड़े विद्वानोंको भी संसारकी ही विद्याओंकी उधेड़बुनसे अवकाश नहीं है। वे उसीमें पारंगत होनेमें महत्ता मान लेते हैं।

५. परमार्थ क्या ? अन्तर्मुखता क्या ? यह जिज्ञासा भी बड़ी कठिनाईसे, जन्म-जन्मका पुण्योदय होनेपर उदित होती है।

जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर प्रयत्न प्रारम्भ होता है। जिनमें कुछ भी प्रयत्न दीखता है, बड़ी सरलतासे कहा जा सकता है कि वे पिछले कई जन्मोंसे मनुष्य होते आ रहे हैं।

६. मनुष्यत्वके जागृत होनेपर भी व्यक्ति भटक जा सकता है। वह साधन, अनुष्ठान और धर्माचरणको भी यश, भोग या स्वर्गका साधन बना ले सकता है। भटक गया सो गया।

७. पुरुषका परम अर्थ क्या ? दूसरे शब्दोंमें मनुष्य होनेका मुख्य उद्देश्य क्या ? मनुष्य योनिकी सार्थकता किसमें ?

जन्म-मरणके चक्रसे छूट जानेमें संसारका प्रेम संसार देता रहेगा। अतः भगवानमें प्रेम हो तो भगवत्प्राप्ति हो और संसार छूटे। अतः परमपुरुषार्थ भगवत्प्रेम।



सकृद्यदन्तर्प्रतिमान्तराहिता मनोमयी—

'आप जिन श्रीकृष्णका ध्यान-चिन्तन करते हैं, वे आपके मनकी कल्पना ही तो हैं ?' अचानक पूछा गया।

वे सन्यासी महात्मा हैं। वृद्ध हैं। अद्वैत तत्वज्ञानमें उनकी निष्ठा है। यह दूसरी बात है कि केवल बौद्धिक समझको ही प्रायः आज लोग तत्वज्ञान मान लेते हैं। शरीरकी सुख-सुविधा-सम्मानकी पूरी चिन्ता बनी रहती है। दुःख, अपमान, असुविधा क्षुब्ध करती है। अविद्या रूप वृक्षकी ये शाखा-टहनियाँ खूब हरे-भरे, फलते-फूलते दीख रहे हैं और मान लिया जाता है कि अविद्या नष्ट हो गयी। वृक्ष कट गया। तत्वज्ञान हो गया।

उनका मुझपर बहुत स्नेह है। मैं उनका आदर करता हूँ। उस दिन सायंकाल मेरे साथ वे हरिद्वार-सप्तसरोवरमें गङ्गा-किनारे बने बाँधपर टहलने निकले थे। उनके स्वभावमें व्यंग करना, चुटकी लेना है। अतः अपने स्वभावानुसार ही चलते-चलते उन्होंने अचानक यह प्रश्न कर दिया। वैसे वे जान-बूझकर मेरे हृदयपर—मेरी भावनापर चोट नहीं करना चाहेंगे, यह मुझे पूरा विश्वास है।

'हाँ' मैंने स्वीकार किया। उत्तेजित होनेका कोई कारण ही नहीं था। देशमें कितने मन्दिर हैं, कितने चित्र भगवानके विविध रूपोंके छपे और छपते हैं। दो प्रसिद्ध मन्दिरोंके श्रीकृष्ण-विग्रहोंका भी आकार एक जैसा नहीं है। श्रीकृष्णको देखकर ही ये मूर्तियाँ, चित्र बनने होते तो बन पाते ? ये श्रीकृष्ण जैसे ही हैं, यह माननेवाला तो मूर्ख होगा। ये सब मूर्तिकार-सा चित्रकारने अपनी कल्पनासे ही बनाये हैं।

श्रीकृष्ण सामने भी बैठ जायँ तो उनकी ठीक मूर्ति या चित्र बन सकेगा ? वे अनन्त सौन्दर्य-सिन्धु—उनका सम्पूर्ण दर्शन तो किसीको कभी होता ही नहीं। नेत्र उनके जिस अङ्गपर पड़े, वहीं रह गये। वहाँसे हटनेका नाम ही नहीं लेते।

न आदि न अन्त बिहार करैं दोउ ।
लाल प्रियामें भई न चिन्हारी ।

अनादि कालसे श्रीराधा-कृष्ण साथ हैं; किन्तु उनमें अभी परस्पर पहचानतक नहीं हुई । यह बात व्रजके रसिक सन्त क्या यों ही कहते हैं । दोनों एक दूसरेको सम्पूर्ण देख नहीं पाते । जहाँ नेत्र गये—

छूवत डूब गयीं पखियाँ—
अखियाँ मधुकी मखियाँ भईं मेरी ।

श्रीकृष्ण किसीके मनमें वास्तविक रूपसे आ सकते हैं ? वे किसीके भी मनमें आ सकते होते तो सब भक्ताचार्य क्यों कहते—

राम अतवर्च बुद्धि मन बानी ।

वे अवाङ्‌मानसगोचर हैं तो जिसके मनमें उनका जो रूप आता है, वह कल्पित तो होता ही है । मैं इस सत्यको स्वीकार करनेमें क्यों हिचकूँ या झुंझलाऊँ ?

'आप जो ब्रह्म-चिन्तन करते हैं, ब्रह्माकार वृत्ति बनाते हैं, वह आपके चिन्तन और वृत्तिमें आनेवाला ब्रह्म तो अकल्पित होता होगा ?' मैंने उनसे पूछ लिया ।

'मैं समझता था कि तुम मेरे प्रश्नसे झुंझलाओगे ।' वे हँसकर बोले—'लेकिन तुमने तो मेरा पत्थर मेरे ही सिरपर दे मारा ।'

'मेरे झुंझलानेकी तो कोई बात नहीं थी ।' मैंने कहा—'बात केवल शब्दके अन्तरकी है । अधिकांश लोग अपनेको अज्ञानी मानते हैं । यद्यपि अज्ञान और मूर्खताके अर्थमें अन्तर नहीं है; किन्तु उन्हें मूर्ख कहना अशिष्टता होती है । भक्तजन भावना करते हैं, यह तो उन्हें स्वीकार ही है । मनमें भावना-भावित भगवन्मूर्ति आती है । भावना और कल्पनाके अर्थमें कोई अन्तर नहीं है । बात केवल श्रद्धासे,सम्मानसे भावित कहने अथवा अशिष्टतासे कल्पित कहनेकी है ।'

परमात्मा किसीकी बुद्धि, मन या वाणीमें नहीं आता। वह निर्गुण निराकार ब्रह्म हो या सगुण साकार श्रीकृष्ण हों, मनमें उनका जो रूप आवेगा, वह भावना भावित ही होगा। आपका मन उसे कल्पित कहकर सन्तुष्ट होता हो तो अवश्य कहकर सन्तोष प्राप्त कीजिये।

बात काम चलने—चलानेकी अर्थात् प्रयोजन पूर्तिकी होती है। भगवान न करें, किसी गङ्गाजीके समीप रहनेवालेके घरमें गङ्गाजी आ जायँ। तब तो वह बेघर हो जायगा। गङ्गाजीकी धारामें जो एक स्थानपर, एक क्षणमें जल होता है, वह भी किसीके लोटेमें आता है? लेकिन स्नान करने, पीनेके लिए क्या वह पूरा जल चाहिये। पवित्र करनेके लिए गंगाजलके दो छींटे पर्याप्त हैं। अतः लोटे या शीशीमें जितना गङ्गाजल आ जाता है, उससे हमारा प्रयोजन पूर्ण हो जाता है। जो बुद्धिमान यह गणित करना चाहते हैं कि गङ्गाकी उत्पत्तिसे अबतक उनमें कितने क्यूसिक जल बह गया और आगे प्रलयतक या जबतक गङ्गाकी धारा समाप्त होनेकी सम्भावना हो, तबतक कितना पानी बहेगा तो वे प्रसन्नतापूर्वक यह गणित करें। हमें उनके गणितको जाननेमें भी कोई रुचि नहीं है।

यह सम्पूर्ण संसार मनः कल्पित है। सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीने इसे सङ्कल्पसे ही बनाया या नहीं? तब इसमें जो जीवका जन्म-मरण है, वह मनका कार्य नहीं है?

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।

मनुष्यका मन ही उसके बन्धन और मोक्षका हेतु है। ऐसी अवस्थामें मनकी कल्पना यदि उसे बन्धन देती है तो क्या कल्पना ही उसे मोक्ष नहीं दे सकती?

आश्चर्यकी बड़ी बात तो यह है कि जो लोग बड़े गर्व और दावेसे संसारको स्वप्न, कल्पना, मिथ्या कहते नहीं थकते, वही उपासनाको कल्पित कहकर ऐसे भड़कते हैं जैसे भैंस लाल कपड़ेसे भड़कती है।

मन ही कर्मोंके संस्कार ग्रहण करता है। इन संस्कारोंके कारण ही पुनर्जन्म होता है और संस्कार राग या द्वेषसे पड़ते हैं। राग कहीं होगा

तब अन्यत्र द्वेष होगा। इसका अर्थ है कि रागकी प्रतिक्रियाका नाम द्वेष है। जो भी पुनर्जन्म मानते हैं, वे इन बातोंको मानते ही हैं।

भक्तका राग संसारमें तो होता नहीं और संसारमें कोई उसके भगवानका प्रतिस्पर्धी है नहीं, अतः कहीं किसीसे द्वेषका प्रश्न नहीं। उलटे भक्तिका परिपाक होनेपर संसार संसार न रहकर भगवन्मय हो जाता है। 'जित देखौं तित स्याममयी है।' जब 'सीयाराममय सब जग' जान लिया तो संसारमें उसका पुनरागमन किस आधारपर होगा ? राग-द्वेषके अतिरिक्त भी कोई जीवको बाँधनेवाली रस्सी है ? केवल मोक्षकी बात करनेवाले तो यह भी नहीं समझते कि बन्धन क्या है। हम परिच्छिन्न जीव हैं, यह मान्यता अविद्या भले हो, सीधे अविद्या बाँधती होती तो सांख्य, योग आदि दर्शनोंके कर्ता अनेक जीववादको क्या स्वीकार करते ?

हमारा ही मत ठीक, यह तो अहङ्कारजन्य दुराग्रह है। दुराग्रह अज्ञान होता है, ज्ञान नहीं हुआ करता। क्योंकि—

बुद्धेः फलमनाग्रहः।

बुद्धिमान होनेका अर्थ है आग्रह हीन होना।

बन्धनका मूल कारण है राग-द्वेष। आपका किसीसे राग है तो आपका मन उससे जुड़ा-बँधा है या नहीं ? इसी प्रकार आपका जिससे द्वेष है, आपका चित्त उसीका चिन्तन करता है।

ये राग-द्वेष शरीरको 'मैं' माननेके कारण—देहासक्तिसे उत्पन्न होते हैं। शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंमें, शरीरके नाम-यश, मानापमानमें, शरीरके द्वारा जुटाया या शरीरको प्राप्त सामग्री, सुख-सुविधामें राग और जो इनका विरोधी, इनको हानि पहुँचाना चाहे उससे द्वेष।

इस प्रकार अपनेको देह मानना अभिनिवेश, अपने 'मैं' को प्रधानता देना अस्मिता और इनके कारण रूपसे कल्पित अविद्या, ये पाँच क्लेश हैं; किन्तु इसमें भी स्पष्ट बन्धनका हेतु राग-द्वेष ही हैं। राग-द्वेष मिटे बिना जो 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर अपनेको मुक्त मान लेते हैं, वे केवल अपनेको

एक भारी भ्रममें डाले हैं। यदि सचमुच उन्हें तत्त्वका बोध हो गया है तो शरीर स्वप्न हो गया। उसका राग-द्वेष कैसे किस आधारपर टिकेगा?

उपासकोंमें कोई नहीं जो न जानता हो कि मन्दिरकी मूर्ति धातु, पाषाण या काष्ठकी बनी है। पूजाके चित्र रंगसे कागज या कपड़ेपर बने हैं। उन्हें किसी चित्रकार या मूर्तिकारने ही बनाया है। इतनेपर भी—अपने द्वारा स्थापित मूर्ति और स्वयं बाजारसे लाये चित्रको भी उपासक अर्चावतार मानता है। साक्षात् भगवान मानता है। उसमें भगवानकी भावना करता है। उपासना इस प्रकार प्रत्यक्षमें भगवद् भाव कराती है।

कितने अद्वैतके अनुभवी ब्रह्मज्ञानी हैं जो संसारको ब्रह्म देख-समझ पाते हैं? गुरुको भी ब्रह्म समझना कितनोंसे बनता है? और जो महाभाग ऐसा समझ पाते हैं, वे भी भावना ही करते हैं या और कुछ?

'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा 'शिवोऽहं' कहकर छाती फुला लेना एक बात है और शरीर, संसार कुछ है ही नहीं, एक ही चेतन सत्ता है और वह मैं हूँ—यह अद्वय तत्त्वका अनुभव दूसरी बात।

जो उपासना करते हैं, वे भी भगवानको सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर तो मानते ही हैं। ऐसे भगवानसे उनका राग हो जाय तो भक्ति हुई। अब राग भगवानसे है तो संसारमें बचा रहेगा? और जब भगवानसे राग हो तो संसारमें वह जीव किस आकर्षणसे आवेगा?

मन, बुद्धिमें तो न ब्रह्म आता और न भगवान आता। मनमें केवल भावना आती है। आप कह सकते हो कि कल्पना आती है। जड़तत्त्व सत्य है या प्रतीति मात्र है? जब प्रतीति मात्र जड़तत्त्वकी कल्पना करके जीव जन्म-मरणके चक्रमें पड़ा है तो चेतनकी कल्पना करके जो सत्य है—भले ही ठीक-ठीक सत्य न हो सके, उसके समीपतक पहुँचता हो, क्या जन्म-मरणसे छूट नहीं जायगा?

ब्रह्माकार वृत्ति भी कल्पित ही होती है। वह एक बार एक क्षणको होती है और अविद्याका नाश करके स्वयं नष्ट हो जाती है। शुकदेवजी परमहंस शिरोमणि हैं और आदि शंकराचार्यके गुरुके गुरु श्रीगौड़पादाचार्यके भी गुरु हैं। वे कहते हैं—

सकृद् यदङ्ग प्रतिमान्तराहिता—
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् ।

—भागवत १०.१२.३९

अंग अर्थात् प्रिय परीक्षित ! श्रीकृष्ण वे परमतत्त्व हैं जिनकी भावना-मयी मनःकल्पित मूर्ति एक क्षणको केवल एक बार अन्तःकरणमें आ जाय तो वह मूर्ति ही भागवती गति दे देती है अर्थात् भगवानको प्राप्त करा देती है ।

जैसे लोटेमें आया गङ्गाजल ही सम्पूर्ण गङ्गाजी नहीं हैं, यह सत्य होनेपर भी यह परम सत्य है कि लोटेके गङ्गाजलमें पवित्र करनेकी वह सम्पूर्ण शक्ति है जो गंगाकी धारामें है। ऐसे ही मनके द्वारा भावित भगवानके रूपमें वह सम्पूर्ण शक्ति है जो श्रीभगवानमें है ।

मन्दिरकी मूर्ति या पूजाके चित्रको अर्चावतार कहा जाता है। इसलिए कहा जाता है कि उसमें भगवानकी भावनाकी गयी है। उसे धातु, पत्थर या कागज मानना तो अपराध है। इसे शास्त्र भगवदापराध कहता है।

ब्रह्म निर्गुण है, इसलिए वह तो अपनी ओरसे कुछ कर सकता नहीं। इसीलिए ब्रह्माकार वृत्ति सर्वथा कल्पित है। लेकिन सर्वथा कल्पित होनेपर भी वह अविद्याको तो नष्ट कर दी देती है। लेकिन भगवान तो सगुण हैं, समर्थ हैं, परम दयालु हैं। जो उनकी जसी मूर्ति हृदयमें भावित करता है, उसे स्वीकृति दे देते हैं। वे सर्वरूप किसी भक्त द्वारा भावित रूपको अस्वीकार नहीं करते और जिसे वे अपना रूप स्वीकार कर चुके, वह कल्पित रहा या उनका वास्तविक रूप हो गया।

मान लीजिये आपके एक मित्रने किसी कागजपर आपके हस्ताक्षर बना दिये। वैसे यह तथ्य है कि अमेरिकाके प्रेसीडेण्टकी ओरसे अनेक महत्त्वपूर्ण कागजोंपर उनकी ओरसे नियुक्त कोई दूसरा ही हस्ताक्षर करता है। इस बातको बहुत गुप्त रखा जाता है। लेकिन न्यायालयमें जब आप उस कागजके हस्ताक्षरको अपना स्वीकार कर लेते हैं, तब उसे झूठा कोई कैसे कह सकता है। भगवानका स्वभाव ही कहा गया है—

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोजे
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥

—भागवत ३.९.११

हे नाथ ! जो भावयोगके द्वारा आपकी भावना करते हैं, वे भावना तो जैसा सुना है, वैसी ही करते हैं; किन्तु अपने उन जनोंके हृदय कमलमें उनके कानके द्वारा दिखाये मार्गसे आप स्वयं उरस्थित रहते हो। (उनकी वह हृदय स्थिति मूर्ति कल्पित नहीं हुआ करती।) क्योंकि जिस-जिस बुद्धिसे वे आपकी भावना करते हैं, उन सत्पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिए आप वह रूप धारण कर लिया करते हो।

अतः ब्रह्माकार वृत्तिके समान भक्तिभाव-भावित भगवद्‌रूप कल्पित नहीं हुआ करता। भगवान स्वयं वह रूप धारण कर लेते हैं। इसलिए वह साक्षात् भगवानका ही रूप है। उसमें वह सब शक्ति, प्रभाव है जो भगवानमें है। ऐसा भगवान इसलिए करते हैं; क्योंकि वे अनन्त ऐश्वर्य सिन्धु तो किसीकी मन-बुद्धिमें समा नहीं सकते।

अग्नि कैसे ? यह क्या शब्दमें आ सकेगा ? लेकिन अग्नि वैसे जैसे काष्ठमें हम उन्हें प्रकट कर लें और काष्ठमें प्रकट अग्निमें कोई शक्ति कम है ? इसी प्रकार भगवान वैसे-जैसे, जिस रूपमें भक्त उनकी भावना करता है।



चिन्तन-सरणि—

१. आपको यह शरीर कैसे मिला ?

आप आस्तिक हैं तो कहेंगे कि—'प्रारब्धके अनुसार मिला।' भौतिकवादी कहेगा—'माता-पिताके द्वारा जो सोलह-सोलह क्रोमोसोम वीर्य एवं डिम्बमें मिले, उनमें स्थित जीन्सने यह शरीर बनाया।'

जीन्स शरीर कैसे बनाते हैं ?

उनमें वंश-परम्पराके संस्कार होते हैं।

प्रारब्ध भी कर्म-संस्कारोंकी राशि ही है या और कुछ ?

अब बिचार करना है कि संस्कार कैसे बनते हैं ?

आप कुछ करते हैं, कुछ देखते या भोगते हैं, कुछ पढ़ते या सोचते हैं तो उसका संस्कार आपके चित्तपर पड़ जाता है। यह ऐसा ही है जैसे टेप रिकार्डरके सामने उसे भरते समय जो बोला जाता है, उसका संस्कार टेपपर पड़ जाता है। शब्द-संस्कारकी उन रेखाओंको टेपपर देखा नहीं जा सकता; किन्तु उसे बजानेपर वही शब्द सुनायी देने लगते हैं।

आज तो कम्प्यूटरका युग है। अनेक विषयोंका निर्णय कम्प्यूटरसे लिया जाता है। बहुत लम्बे और जटिल गणितके प्रश्न कम्प्यूटर हल कर देता है। लेकिन कम्प्यूटर यह कैसे करता है ? उसमें पहले उन विषयोंके संस्कार भरने पड़ते हैं।

आप एक कम्प्यूटरमें विश्वके अनेक डाक्टरोंके ज्ञानका संस्कार उन डाक्टरोंके द्वारा भरवा दे सकते हैं और कम्प्यूटर पीछे उन सब डाक्टरोंके ज्ञानको मिलाकर निर्णय कर सकता है। लेकिन जो बात किसी डाक्टरने उसमें नहीं भरी उसके सम्बन्धमें कम्प्यूटर कुछ नहीं कहेगा।

२. आप एक गुलाबका पुष्प देखते हैं। उसके रंग एवं गन्धका संस्कार मनपर पड़ गया। अब कोई गुलाबी कहे तो आपके मनमें उस पुष्पका रंग जाग जाता है। दूरसे वायुमें गुलाबकी गन्ध आवे तो आपके मनमें गुलाबका फूल जाग जाता है। इसी प्रकार संसारके सब पदार्थ एवं

विचारोंका संस्कार मनमें पड़ता रहता है। इस संस्कार राशिसे ही प्रारब्ध बनता है।

अनन्त जन्मोंसे चित्तमें संसारकी वस्तुओं, विचारोंके संस्कार पड़ते रहे हैं और अब भी प्रतिक्षण पड़ रहे हैं। अतः कोई आशा नहीं कि ये संस्कार स्वतः समाप्त होंगे। संस्कारोंके द्वारा जन्म-मरण होता है तो संस्कारोंके रहते यह कैसे बन्द हो जायगा।

३. अपने आप मैला कपड़ा या बर्तन अधिक मैला होता जायगा, स्वच्छ नहीं होगा। ऐसे ही अपने आप जन्म-मरणसे छुटकारा नहीं होगा।

स्वच्छताके लिए प्रयत्न करना पड़ता है। परिष्कार किया जाता है। चित्तका भी परिष्कार करना है। अप्रयत्न छोड़ देनेपर तो वह अस्वच्छ ही होता जायगा।

४. संस्कार-राशिको मिटा ही दिया जाय। यह योगका मार्ग है। चित्तवृत्तिका निरोध करके चित्तको वृत्ति शून्य कर दिया जाय और पर वैराग्यके द्वारा समस्त संस्कारोंसे वितृष्णा हो जाय।

५. संस्कार राशिको भस्म कर दिया जाय, यह ज्ञानका मार्ग है। ज्ञानाग्नि सब कर्मोंको (कर्म-संस्कारोंको) भस्म कर देती है।

६. संस्कारोंको परिवर्तित कर दिया जाय। यह भक्तिका मार्ग है। वही रस, रूप, गन्ध, शब्द, स्पर्श; किन्तु सांसारिक पदार्थोंके न रहकर भगवानके। वही विचार; किन्तु भगवानके सम्बन्धमें।

७. आप योगका मार्ग लेंगे तो धारणा करनी पड़ेगी या नहीं ? धारणा तो मनके द्वारा ही होगी।

आप ज्ञानका मार्ग अपनावेंगे तो जो ब्रह्माकार वृत्ति अविद्याका नाश करेगी, वह कल्पित वृत्ति ही तो होगी।

आप भक्तिमार्गमें चल रहे हैं तो भगवानको देखकर तब चलेंगे या चलते रहेंगे तो अन्तमें भगवान दर्शन देंगे ? इसमें हिचकने या डरनेकी बात क्या है ? चलना तो सदा ही कल्पनाश्रित है। भगवानके सम्बन्धकी कल्पना ही मोक्षदा है।



सिद्धयः प्रत्यवायाः–

श्रीमद् भागवतमें सभी सिद्धियोंके सम्बन्धमें भगवान श्रीकृष्ण अपना विचार प्रकट करते कहते हैं—

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम् ।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः ॥

११-१५-३३

जो मुझ परमात्माको प्राप्त करनेके लिए उत्तम साधन करनेमें लगा है, उसके लिए सब सिद्धियोंको विघ्न कहा गया है; क्योंकि ये उसका समय नष्ट करती है ।

'सिद्धयः प्रत्यवायाः' अर्थात् सिद्धियाँ साधनकी विघ्न हैं ।

जब भगवानने गीतामें आश्वासन दे दिया—'न मद् भक्तः प्रणश्यति' मेरे भक्तका नाश नहीं होता और—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मार्ति वर्तते ।

जो यह जाननेकी इच्छा भी करता है कि भगवत्प्राप्ति कैसे हो, वह अन्ततः उन्हें प्राप्त कर ही लेता है, अतः—

नहि कल्याण कृत् कश्चित् दुर्गन्ति तात गच्छति ।

उत्तम साधन करनेवाला कोई किसी भी विघ्नके आ जानेसे दुर्गतिको तो नहीं प्राप्त होता; किन्तु उसके साधनमें—भगवत्प्राप्तिमें विलम्ब हो जाता है ।

कालक्षपणहेतवः—सिद्धियाँ कालक्षपणका कारण हो जाती हैं। कालक्षपण तो आजकलके सुसभ्य समाजको बहुत प्रिय है। लोग 'बोर' (ऊबते) होते रहते हैं और कालक्षपण (टाइम पास) करनेके लिए नाना

प्रकारके खुराफ़ात करते रहते हैं; किन्तु क्या साधक भी बोर होता (ऊबता) है ? उसके पास भी व्यर्थ समय है नष्ट करनेके लिए ?

कालक्षपण भी कितना ?

सन् १९३७ या ३८ के लगभग मैं उस समयके प्रसिद्ध चमत्कारी सन्त श्रीगुदड़िया बाबाजीके दर्शन करने गया था। तब मैं मेरठसे निकलनेवाले मासिक पत्र 'संकीर्तन' का सम्पादक था।

श्रीगुदड़िया बाबाजी एक गुदड़ी ओढ़े फुटपाथपर पड़े थे। वे सर्दी, गर्मी और तेज वर्षामें भी किसी मन्दिर या मकानमें नहीं जाते थे। प्रायः हरिद्वारसे खुर्जा या हापुड़तक घूमते रहते थे और मार्गके किनारे पड़े रहते थे। बिना माँगे जो भिक्षा मिले उसीसे निर्वाह करते थे।

उनको प्रायः बच्चे घेरे रहते थे और बाबा भी बच्चोंको अंगूर, किसमिस बाँटते रहते थे। वे बाँया हाथ फैलाकर हथेली पृथ्वीकी ओर करते तो उससे अंगूरोंके गुच्छे लगने लगते थे; किन्तु कोई वयस्क व्यक्ति कुछ माँगे या चमत्कार दिखलानेकी प्रार्थना करे तो उसे गाली देकर भगा देते या स्वयं वहाँसे चल देते थे।

जब देशका विभाजन हुआ, रात्रिमें हापुड़के पास वे मार्गके किनारे पड़े थे। उन्हें कुछ विधर्मी उपद्रवी लोगोंने बहुत पीटा। इतना पीटा कि उसीसे तीन-चार दिनमें उनका शरीर चला गया; किन्तु पुलिस तथा दूसरे लोगोंके पूछनेपर वे यही कहते थे—'नारायण ! तुमने ही मारा और तुम्हीं पूछते हो। तुम्हीं दवा लगाते हो।'

मैं उन्हें प्रणाम करके बैठा तो उन्होंने हवामें मुट्ठी बाँधी और एक मुट्ठी कच्चे पिश्ते मुझे दे दिये। मैंने पूछा—'ये खाने योग्य हैं ?'

बहुत प्रसन्न हुए। बोले—'लड़के ! आज पहली बार तूने ऐसी विवेककी बातकी है। ये चोरीके नहीं हैं। जहाँ जङ्गलमें होते हैं, वहाँसे आये हैं। तू खा सकता है।'

दिया तो उन्होंने किसमिस भी और उसमें भी कूड़ा-तृण मिला था। कहीं जङ्गलसे ही समेटा लगता था। मैंने उनसे कहा—'संकीर्तनके पाठकोंको

आपका कोई सन्देश देने आया हूँ। आप अपने अनुभवकी कोई साधन-सम्बन्धी बात बतला दीजिये।'

उन्होंने कहा—'बेटे! अभी तू बालक है। (तब मैं छब्बीस वर्षका था) मैंने तो मोहवश जीवन नष्ट कर दिया, तू मत करना; क्योंकि जब कोई साधक जान-बूझकर एक बार भी सिद्धिका प्रयोग करता है तो सिद्धि प्रयोगमें जो अहंभाव तथा सङ्कल्प है, वह उसे इस जीवनमें मुक्त नहीं होने देता। उसका सिद्ध देहका प्रारब्ध तो उसी समय बन जाता है। उसका साधन-भजन उस प्रारब्धको ही पुष्ट करता है। वह मरकर सिद्ध लोक ही जायगा। उसके बाद कभी मनुष्य योनि पावे तब साधन करके भले मुक्त हो।'

मैंने वह उपदेश 'संकीर्तन' में तो प्रकाशित किया ही, मेरे मनमें वह बैठ गया। अब जब किसी दिवंगत महापुरुषके सम्बन्धमें सुनता हूँ कि मृत्युके पश्चात् उन्होंने अपने किसी भक्तको दर्शन दिया, कुछ आदेश किया तो मुझे आश्चर्य नहीं होता। श्रीगुदड़िया बाबाजीकी वह बात स्मरण आ जाती है।

सिद्धलोकमें सिद्ध देहकी आयु तो कल्पान्ततक है और एक कल्प अर्थात् ब्रह्माजीका एक दिन हम मनुष्योंके वर्षोंसे ४३, २०, ००,००,००० वर्ष है। आप चाहें तो इस बातसे सन्तोष कर सकते हैं कि ब्रह्माजीके वर्तमान दिनका कुछ भाग बीत गया है; क्योंकि ब्रह्माजीके एक दिनमें चारों युग एक सहस्र बार बीतते हैं। उसमें-से सत्ताइस चतुर्युगी बीत चुकी हैं और अट्ठाइसवीं चतुर्युगीका यह अन्तिम युग कलियुग चल रहा है।

लेकिन सिद्धिका प्रयोग करनेपर सिद्ध लोकमें रहना पड़ेगा और ब्रह्माजीकी रात्रि भी उतनी ही बड़ी होती है जितना बड़ा दिन। अतः ब्रह्माजीके दिनका शेषांश और उनकी पूरी रात्रि बीतनेपर अगले कल्पमें कहीं मनुष्य जन्म होना सम्भव है। इस बीचका कालक्षपण होगा ही।

सिद्धिके द्वारा जो शक्ति प्राप्त होती है, उससे लाभ क्या होता है? उसका कोई पारलौकिक लाभ तो है नहीं। यदि सिद्धि योगकी या भक्तिकी हुई तो उससे मरनेपर सिद्ध लोक मिलेगा। लेकिन सिद्धि किसी देवता, भूत-प्रेतके द्वारा प्राप्त है तो?

यान्ति देवव्रतादेवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या .... ।। गीता ९.२५

देवताका उपासक देवगण बनेगा, पितृपूजक पितृगण और भूत-प्रेतोंका उपासक मरकर उस भूत या प्रेतका सेवक बनेगा ।

जीवनमें उत्तम-से-उत्तम सिद्धि यश तथा ऐश्वर्य देती है। लोग सम्मान करते—पूजते हैं, सेवा करते हैं, भेंट-उपहार देते हैं । केवल भौतिक सुख प्राप्त होता है सिद्धिसे ।

यदि सिद्धि राजस-तामस हुई तो वह दूसरोंको उत्पीड़ित करनेके काम आतो है । उससे लोग आतंकित भले हों, डरें भले; किन्तु सुख-सम्पत्ति, सम्मान भी नहीं मिलता ।

एक बात और—प्रत्येक शक्तिकी सीमा होती है । विश्वका सबसे बड़ा पहलवान भी पहाड़ तो नहीं उठा सकता । यह काम तो कन्हाई ही कर सकता है । इसी प्रकार सिद्धोंके शक्तिकी भी सीमा है । राजस-तामस सिद्धि, भूत-प्रेत तथा देवताकी शक्ति सीमा बहुत छोटी है । वे किसी सात्विक पुरुषको या तो प्रभावित नहीं कर पाते या बहुत कम प्रभावित कर पाते हैं ।

योगीकी शक्ति भी सीमित है । किसीके प्रबल प्रारब्धको वह नहीं बदल सकता । किसी दृढ़ निष्ठावान साधकको प्रभावित करना भी कठिन या अशक्य हो जाता है ।

जैसे पहलवान भी पर्वतपर सिर मारे तो उसीका सिर फूटेगा, इसी प्रकार सिद्ध अपनी शक्ति जहाँ न चलती हो वहाँ प्रयत्न करे तो हानि उठा सकता है । अनेक बार उसकी सिद्धि ही उससे सदाको चली जाती—रूठ जाती है ।

सिद्धिके द्वारा दूसरोंकी सेवा—दूसरोंको लाभ पहुँचाना सम्भव तो है; किन्तु वह भी केवल भौतिक सुख-साधन देने अथवा किसी सांसारिक कष्टके निवारणमें, किसी लौकिक सफलताको दिलानेमें ही सीमित है ।

आज देशमें लगभग तीन सौ तो अवतार कहलानेवाले लोग हैं । इतने भगवानोंके अतिरिक्त सिद्ध महापुरुष भी कुछ हैं; किन्तु थोड़े हैं; क्योंकि

आजकल जिसमें भी कुछ थोड़ी चमत्कारकी शक्ति आ जाय, वह झटपट भगवान बन जाता है। यहाँतक कि अभी ४०-५० वर्ष पहले जैसे जादूगर सड़कोंपर खेल दिखलाकर—मेस्मराइजके चमत्कार प्रदर्शनके पश्चात् पैसे पैसे माँगते थे, वैसे चमत्कारवाले भी आज भगवान बन जाते हैं। बहुत थोड़ा मेस्मराइजकी शक्ति (सम्मोहन विद्या) अथवा यह भी न हो तो अच्छी वक्तृत्व शक्ति और थोड़े पढ़े-लिखे प्रशंसक आज भगवान बननेके लिए पर्याप्त हैं।

तीन सौ के लगभग तो वे भगवान हैं जो स्वयं अपनेको या उनके भक्त उनको समाजमें भगवान घोषित करते हैं। इनके अतिरिक्त बहुतसे साधुवेशधारी हैं जो अपने प्रिय भक्तोंको ही एकान्तमें बतलाते हैं कि वही राम, कृष्ण, शिव सब हैं। उनके भक्त चुपचाप रामनवमी, जन्माष्टमी, शिवरात्रिपर उनका पूजन-अर्चन करके कृतार्थ हो लेते हैं।

मुझे न इन भगवानोंकी पूजा करनी है, न इनकी कोई जन-गणना करके इन्हें प्रमाणपत्र देना है। इन सबका व्यापार मेरे प्रमाणपत्रके बिना भी धड़ल्लेसे चल रहा है। मुझे तो केवल सावधान पाठकोंसे कहना है कि इनमें अनेक चमत्कार दिखलानेवाले हैं। उनके चमत्कारोंसे सावधान रहना है।

कुछ व्यक्ति या समूहको सम्मोहित करते हैं। तब व्यक्ति उन्मत्तके समान नाचता, गाता, चिल्लाता है या कपड़े उतारकर नंगा हो जाता है। कुछ शक्तिपात करते हैं। इसमें भी दो प्रकारका शक्तिपात है। एकमें उस महात्मा द्वारा स्पर्श किये जानेपर सिर या रीढ़के भीतर झुनझुनी-सी चलने लगती है। दूसरेमें व्यक्ति विचित्र अनुभव करने लगता है। वह समाधिस्थ भी हो सकता है अथवा अपनेको शरीरसे, कभी अहंसे भी पृथक अनुभव कर सकता है। उसे लग सकता है कि उसे ब्रह्मानुभव हो गया।

शक्तिपात करनेवाले कहते हैं कि वे अपनी शक्तिसे कुण्डलिनी जागृत कर देते हैं। इस सम्बन्धमें सिद्धि क्या हैं, यह बात समझ लेना चाहिए—

जन्मौषधितपोमन्त्र समाधिजा सिद्धयः।

जन्मसे किसीको कोई विशेष शक्ति प्राप्त होती है। किसीको तपस्यासे, मन्त्रजपसे या मनोबलसे—मनको एकाग्र करनेसे कुछ विशेष शक्तियाँ मिलती हैं। औषधिसे भी कुछ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

प्राचीनकालसे लोग भाँग या गाँजा पीकर ध्यानस्थ होते रहे हैं। अब अमेरिकामें एल. एस. डी. जैसे नशे आध्यात्मिक स्थिति देनेके साधन कहे जाने लगे हैं।

'सम्भोगसे समाधिकी बात करनेवाले यही तो धोखा देते हैं कि नशेसे या सम्भोगसे होनेवाली एक प्रकारकी शिथिलता या मूर्छा ही समाधि है।

मस्तक या शरीरमें झनझनाहट हल्का बिजलीका धक्का देकर भी उत्पन्न किया जा सकता है। अतः आपको यह ठीक समझ लेना है कि अध्यात्म क्या है। मोक्ष क्या है। नशेमें झूमना हो या शक्तिपातसे अथवा संगीतसे, उसका अध्यात्मसे क्या सम्बन्ध है, यह जाने बिना सहस्रों साधक भटकते हैं।

जैसे कान बन्द करके शब्द सुनना या गन्ध, रस आदिका जागरण है, वैसे ही कुण्डलिनी जागरण है। ये सब क्रियाएँ मनको एकाग्र करनेकी साधन तो हैं; किन्तु इनकी कोई अवस्था, कोई विन्दु दर्शन चरमावस्था नहीं है। अतः आध्यात्मिक उन्नति क्या, यह ठीक समझलें।

जीवका बन्धन राग-द्वेषके कारण है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि इस राग द्वेषके ही रूप हैं। साधन कोई भी हो, वह यदि राग-द्वेष दूर करता है तो ठीक है और किन्हीं अनुभवोंमें ही महत्ता बुद्धि उत्पन्न करता है तो आपको भटकाता है।

अध्यात्म शब्दमें आत्माका अर्थ शरीर है। इस शरीरको ही अधिकृत करके जो भीतर स्थित है, वह अध्यात्म। उसको बाहरसे पाना नहीं है और बाहरसे उसपर प्रभाव भी नहीं पड़ता। चित्त ही बन्धनका हेतु है और उसीको निर्मल करना है, साधनमात्र इसे स्वीकार करता है।

चित्तको निर्मल करनेमें बाहरी साधन जैसे उपदेश, कथा श्रवण, कीर्तन, नामजप, तीर्थाटन, पूजा-पाठ प्रेरक होते हैं, वैसे ही उत्तम संगीत

अथवा शक्तिपात भी प्रेरक तो हो सकता है; किन्तु बाहरी प्रभाव स्थायी नहीं हुआ करता, यह भूलना नहीं चाहिये। उलटे वह बाहरी प्रभाव जो हमारी बुद्धिको स्तब्ध करदे, वह नशा हो या शक्तिपात अथवा सम्मोहन, हानिकर ही होता है। नशे और सम्मोहनमें कोई विशेष अन्तर इस दृष्टिसे नहीं है।

चित्त निर्मल होता है विवेकसे, वैराग्यसे और भक्तिसे। लेकिन ये भी नशेके समान ऊपरसे—बाहरसे लाये जायँगे तो क्षणिक होंगे और आपके अन्तःकरणको दुर्बल ही करेंगे।

यहीं स्मरण करने योग्य है कि परम संत ज्ञानेश्वरजी सिद्ध योगी थे। उन्होंने चमत्कार अनेक प्रकट किये; किन्तु किसीपर शक्तिपात नहीं किया और जिन अपने गुरु तथा सगे भाई निवृत्तिनाथजीकी वे ज्ञानेश्वरीमें बार-बार स्तुति करते हैं, उन्होंने तो कोई चमत्कार प्रकट ही नहीं किया।

अतः साधकको न सिद्धि—चमत्कारकी इच्छा करनी चाहिये और न किसी आजके भगवान या चमत्कारी पुरुषकी सहायताके प्रलोभनमें आना चाहिये। उसका उत्थान उसीके भजन तथा उसके आराध्यकी कृपासे होना है और आराध्य न कृपा-कृपण हैं, न असमर्थ।



चिन्तन-सरणि—

१. सिद्धि शब्दके अर्थमें भूल नहींकी जानी चाहिए। यहाँ सिद्धिका अर्थ चमत्कार शक्ति ही है। वैसे सिद्धि शब्द उसी धातुसे 'प्र' उपसर्ग लगे बिना बना है, जिसमें 'प्र' उपसर्ग लगकर प्रसिद्धि बन जाता है। सिद्धिका सामान्यार्थ है सफलता। गीतामें तो प्रायः सिद्धि शब्द अन्तःकरणकी शुद्धिके अर्थमें आया है; क्योंकि साधनकी सफलता अन्तःकरणकी शुद्धि ही है।

२. प्रायः साधक कहते हैं—'इतने दिन साधन करते हो गया, कुछ हुआ नहीं।'

मैं हँसीमें कहता हूँ—'आप क्या होना चाहते हैं ? आपके सींग निकल आवें या पूंछ ?'

एक महात्माने अपने एक साधकको कोई जप बतला दिया। उन्होंने खूब लगकर जप किया। कुछ महीने पीछे अपने उपदेष्टाके समीप आकर बोले—'इतना सब किया; किन्तु कोई लाभ नहीं हो रहा है।'

'तब इस जपको छोड़ दो।' महात्माने कहा।

'छोड़ कैसे दूँ ?' वे कुछ घबड़ाये।

'मैं आज्ञा देता हूँ कि इसे अभी छोड़ दो।' महात्माने पक्के ढङ्गसे कहा।

'आप मुझे गङ्गाजीमें डूबकर मर जानेकी आज्ञा दें।' उस समय तो वे साधक चले गये थे; किन्तु घण्टे-दो घण्टे बाद ही महात्माके समीप आये और रोते-रोते उनके चरण पकड़ कर बोले—'जप मैं प्रयत्न करके भी छोड़ नहीं पा रहा हूँ। गुरु-आज्ञा भङ्ग करनेसे तो मर जाना अच्छा है।'

'मूर्ख है तू।' महात्मा हँसे—'अरे जिस जपको छोड़ देनेके स्थानपर तू शरीर छोड़ देनेको तैयार हो गया है, वह तेरे जीवनका अङ्ग बन गया या नहीं ? तू कहता है कि कोई लाभ नहीं हो रहा है। भगवन्नाम तेरा जीवन बन गया, इससे बड़ा लाभ तुझे और क्या चाहिए ? जा, जप कर।'

तात्पर्य यह है कि किसी भी पारमार्थिक साधनका परिणाम यह होना चाहिए कि साधन जीवनका अङ्ग बन जाय। उससे किसी चमत्कारकी आशा करना समझदारी नहीं है।

३. आप उपार्जन करते हैं और रुपया अपने बैङ्कके खातेमें जमा करते हैं। आपका साथी भी आपके ही जितना या कुछ कम उपार्जन करता है; किन्तु वह उससे सामान खरीद लेता है। उसके पास अच्छी घड़ी, फ्रीज, टेलीवीजन, मोटर आदि तड़क-भड़ककी सामग्री बहुत है। इसलिये लोग उसे धनी समझते हैं। उसका सम्मान भी बहुत है। लेकिन उसके पास पूंजी नहीं है। सम्भव है ऋण भी हो उसके ऊपर।

आप दोनोंमें वस्तुतः धनी कौन है, क्या यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है? यदि कोई व्यय साध्य यात्रा करनेकी आवश्यकता ही आ पड़े आप दोनोंके लिए और दोमें किसीको ऋण न मिलने वाला हो, पुरानी सामग्री बिक न सकती हो तो आपके साथीकी क्या दशा होगी? आपके सामने तो कोई समस्या ही नहीं है।

४. साधन-भजनका फल समाप्त होता रहता है चमत्कारोंके होनेसे। लोकमें प्रसिद्ध न किया जाय तब भी कुछ घटता ही है; क्योंकि उससे प्रसन्नता, आत्मगौरव तो मिला ही। लोकमें प्रसिद्ध किया तव तो प्रसिद्धिके रूपमें बहुत फल मिला। वह भजन-साधन ही व्यय हो गया।

कोई चमत्कार नहीं हो रहा है तो क्या भजन व्यर्थ जा रहा है? एक ओर आप कहते मानते हो कि कर्म कोई व्यर्थ नहीं जाता—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' और दूसरी ओर भजन जैसे परम पवित्र सशक्त कर्मको व्यर्थ जाता मान लेते हो, यह नासमझी है।

५. भजनका फल—परम फल भजन ही है। उसमें यदि चमत्कार होता है तो उससे डरना चाहिये। भगवानसे सच्चे मनसे प्रार्थना करना चाहिए कि वे चमत्कार लौटा लें।

सिद्धि तो परम सफलताकी प्राप्तिमें बाधक है ही। उसके प्रति आकर्षण जिनमें होता है या है, जो उसे महत्त्वकी वस्तु मानते हैं, वे सब संसारी पुरुष ही हैं। उनके लिए अर्थ, भोग और यश ही परम प्राप्य हैं।



जीवस्य देहमुभयं-

'मोक्ष किसका होता है ?'

'जिसका जन्म-मरण होता है।'

'जन्म-मरण किसका होता है ?'

'जीवका।'

'जीव क्या है ?'

अब इसके उत्तरमें श्रीमद्भागवतका एक श्लोक महात्माने सुना दिया—

एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम्।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते॥ ४.२९.७४

पञ्च तन्मात्राओंसे बना, सोलह तत्त्वोंवाला—त्रिगुणमय जो लिङ्ग (सूक्ष्म) देह है, यही चेतनासे युक्त होकर जीव कहा जाता है।

जीवको यहाँ पृथक तत्त्व नहीं माना गया है और चेतनाको चेतन माननेकी भूल भी मत कीजिये। चेतना भी स्थूलका—क्षेत्रका ही अंश है।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेताधृतिः।
एतत्क्षेत्रं..॥गीता १३.६

राग-द्वेष, सुख-दुःख, पंचमहाभूत, इन्द्रियाँ, प्राण और अन्तःकरण—इनका संघात (एकत्री भाव) इस संघातमें प्रतिविम्बकी भाँति आयी चेतना। ये सब क्षेत्र हैं।

बहुत कम लोग जानते समझते हैं कि कारण शरीर और जीव क्या है। अतः इसे स्पष्ट हो जाना चाहिये आपके चित्तमें।

स्थूल शरीर आप जानते हैं। यह पञ्चीकृत पञ्च महाभूतोंका बना पिण्ड है। इसमें उत्पन्न होना—मरना, घटना-बढ़ना, क्षीण होना और यह सब बराबर चलते रहनेपर भी बने रहना, ये ६ विकार हैं।

इस शरीरमें पञ्चकोश कहे जाते हैं। ये कोई पृथक तत्त्व नहीं हैं। अन्नसे बना शरीर ही अन्नमय कोश है। शरीरमें जो क्रियाकी शक्ति है उसे प्राणमय कोश कहते हैं। बिना इच्छाके भी रक्तचालन आदि क्रिया होती है। हाथ-पैर आदि हिलानेकी इच्छा होनेपर वे हिलते हैं। इच्छा मनमें होती है, अतः इच्छाशक्तिको मनोमय कोश कहते हैं। बुद्धि—विचार करने, उचित-अनुचित सोचनेकी शक्ति विज्ञानमय कोश है और भोगोंमें, क्रियामें जो आनन्द आता है, उसीको आनन्दमय कोश कहा जाता है।

जबतक मुक्त ही न हो जाय, जीव आधे क्षण भी तीन शरीरोंके बिना नहीं रहता। मरते समय जब स्थूल शरीर छूटने लगता है तब एक आतिवाहिक (भावनात्मक कह लें) देह धारण करके तब स्थूल शरीर जीव छोड़ता है। प्रेत, पितर आदि इस आतिवाहिक देहमें रहते हैं। इस आतिवाहिक देहकी आकृति प्रायः स्थूल शरीरकी मरते समयकी आकृतिके समान होती है। इसीसे किसीको प्रेत या पितर दीखें और वे जीवनमें पहिचाने हों तो पहिचान लिये जाते हैं।

जब प्राणी नरक जाता है तो आतिवाहिक देह छूट जाता है। वहाँ यातना देह मिलता है। ऐसे ही स्वर्गमें भोग-देह मिलता है। लेकिन भोग-देह या यातना-देहकी आकृति भी बहुत कुछ आतिवाहिक देहके समान ही रहती है।

स्थूल शरीरमें प्रायः व्याप्त सूक्ष्म शरीर है। इस सूक्ष्म शरीरमें घटने-बढ़नेकी असीम क्षमता है। अतः यह चींटीसे भी बहुत छोटे जीवों तथा हाथीसे भी विशाल जीवोंमें व्याप्त रहता है।

पञ्च तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) पञ्चप्राण, दस इन्द्रियाँ और अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार) इन तत्त्वोंसे बना सूक्ष्म शरीर है। यह सूक्ष्म शरीर ही चेतनासे युक्त होकर जीव कहा जाता है।

जैसे कहीं भी आप मकान बनालें तो उसमें आकाश रहेगा ही। उस मकानमें भी गृह देवता आ जाता है। जैसे किसी घड़ेमें पानी भरकर बाहर रखें तो दिनमें उसमें सूर्यका प्रतिविम्ब स्वतः पड़ता है। यह प्रतिविम्ब ही चेतना है। मकानमें यही गृहदेवता बनता है। इसीको लोग जीव कह देते हैं। सूर्यके प्रतिविम्बमें प्रकाश तथा कुछ ताप भी रहता ही है। ऐसे ही अन्तःकरणमें जो चेतनका प्रतिविम्ब पड़ा उसमें भी चेतनका प्रकाश तो है ही।

अब घड़ेका जल हिलेगा तो उसमें पड़ा प्रतिविम्ब भी हिलेगा। घड़ा कहीं ले जायँगे तो प्रतिविम्ब भी जायगा। घड़ेके जलमें मैलापन या रङ्ग रहेगा तो प्रतिविम्बमें भी वह लगेगा।

इस प्रतिविम्ब—चेतनायुक्त सूक्ष्म शरीरका ही नाम जीव है। इसीका आवागमन, जन्म-मरण होता है। भक्तिके द्वारा इस सूक्ष्म शरीरमें ही परिवर्तन होकर इसका दिव्यीकरण हो जाता है। सूक्ष्म शरीरके भौतिक तत्त्व छूट जाते हैं और दिव्य-चिन्मय शरीर बन जाता है। मोक्षका अर्थ है इस सूक्ष्म शरीरका विलय। जैसे घड़ा फूट गया तो उसकी मिट्टी मिट्टीमें मिल गयी, जल वाष्प बनकर उड़ गया और उस जलमें जो प्रतिविम्ब पड़ता था, वह दीपकके बुझनेके समान बुझ गया। इसीसे मोक्षको निर्वाण कहते हैं।

यदि अन्तःकरण—सूक्ष्म शरीर बना रहेगा तो केवल इस ज्ञानसे कि 'मैं प्रतिविम्ब नहीं, विम्ब हूँ' मोक्ष नहीं हुआ करता। विम्ब तो नित्य मुक्त है। ब्रह्म या ईश्वरका मोक्ष नहीं होना है। मोक्ष उसका होता है जो जन्म-मरणके बन्धनमें था। वह सूक्ष्म शरीर ही है।

अब कारण शरीरकी बात। इसीको लिङ्ग शरीर भी कहते हैं। कारण शरीर अर्थात् शरीरका कारण। लिङ्ग शरीरका भी अर्थ है शरीरका चिह्न। यह कोई शरीर नहीं है। सूक्ष्म शरीरको मैं मानना अविद्या है। यह अविद्या ही शरीरका कारण होनेसे कारण शरीर कही जाती है। यही शरीरका चिह्न है; क्योंकि समग्र चेतनसे इसके कारण ही पृथक अस्तित्वका बोध है। यह अपने पृथक अस्तित्वका बोध ही शरीरका चिह्न होनेसे लिङ्ग शरीर कहा जाता है।

आप जानते हैं कि जड़ स्वयं सक्रिय नहीं हो सकता। उसे क्रियाशील होने या रहनेके लिए चेतनका सहयोग चाहिये। सूक्ष्म शरीरमें क्या चेतन है ? उसमें परिच्छिन्न भी क्या है ?

पञ्चतन्मात्राएँ परिच्छिन्न होती हैं ? आप एक गन्धको ही अपनेतक रोक नहीं सकते तो रस, रूप, स्पर्श, शब्द तो क्रमशः और सूक्ष्म हैं। स्थूल वायु भी आपके शरीरतक सीमित नहीं, श्वासका ही लोगोंमें प्रतिक्षण अबाध विनिमय हो रहा है तो प्राण सीमित रह सकते हैं ? जो वायुसे भी तीव्र वेग है वह मन, बुद्धि, चित्त सीमित रहेगा ? हाँ—चित्त ही सीमित रहता है; क्योंकि कर्म-संस्कार राशिका नाम ही चित्त है। यही भिन्न-भिन्न होनेसे भिन्नत्वको बनाये है। अन्यथा अहङ्कार तो व्यापक है। महत्तत्त्वसे उत्पन्न अहंके तामस अंशसे तो आकाश बना, अतः आकाशका भी जो कारण है, वह परिच्छिन्न, सीमित कैसे रहेगा ?

मन और बुद्धि तो स्तर हैं। इनकी स्थिति ऐसी है जैसे रेडियोके 'वेव' (स्तर) की होती है। यह व्यक्तिगत नहीं हैं। व्यक्तिगत तो स्थूल शरीर है, यह भी भ्रम है। शरीरका प्रतिकण प्रतिक्षण नदीकी धाराके समान बदलता जा रहा है। इस परिवर्तनपर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है।

चेतना प्रतिविम्ब है। उसमें हमारा अपना कुछ नहीं है। अतः जन्म-मरणका मूल हेतु चित्त है। यही कर्म-बन्धनका कारण है। इसीकी पृथक स्थिति है। इसीके कारण व्यक्तित्वकी, पार्थक्यकी प्रतीति है। यह चित्त कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। कर्म-संस्कार राशिका नाम ही चित्त है और कर्म जीवोंके पृथक्-पृथक हैं।

श्रीमद्भागवतमें इसीलिए सनकादिने अपने पिता ब्रह्माजीसे प्रश्न किया—

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः॥ —११.१३.१७

गुणों (सत्त्व, रज, तम) में चित्त प्रविष्ट होता है और गुण चित्तमें प्रविष्ट होते हैं। ये तो अन्योन्याश्रित हैं। अतः जो भवसागरसे पार जानेकी इच्छा करनेवाला मुमुक्ष है, वह इनका कैसे त्याग कर सकता है ?

मुक्त होनेके लिए गुणातीत होना चाहिये; किन्तु चित्त गुणोंसे अतीत हो कैसे सकता है ? चित्त ही गुणोंमें लगा रहे तो कर्म-संस्कार बढ़ाता ही रहेगा। फिर मोक्ष कैसे सम्भव है ?

ब्रह्माजीको इस प्रश्नका उत्तर नहीं सूझा तो उन्होंने भगवानका ध्यान किया। भगवानने हंसावतार धारण किया। वे हंस रूपमें ब्रह्मा तथा सनकादि कुमारोंके सम्मुख प्रकट हुए।

आप जानते हैं कि जो इन्द्रिय जिस तन्मात्रसे बनी है, उसी विषयकी ओर जाती है। नेत्र रूप-तन्मात्रासे बने हैं तो रूपकी ओर ही जायँगे। आप भले सिद्ध योगी हो जायँ; किन्तु नेत्रोंसे गन्ध, स्पर्श या रसका ज्ञान नहीं होगा। वैसे नेत्रोंसे लोग बातें तो कर लेते हैं; किन्तु क्या शब्दोच्चारण सम्भव है ? ऐसे ही चित्त गुणोंसे बना है। चित्त कर्म-संस्कारकी राशि है और कर्म तो सात्त्विक, राजस या तामस ही होगा। अतः चित्तके सब संस्कार सात्त्विक, राजस और तामसमें-से ही हैं। इसलिए चित्तकी प्रवृत्ति भी गुणोंमें ही है।

नेत्रोंसे कोई रूप मत देखो। इस आज्ञाका क्या अर्थ है ? इसका अर्थ है कि नेत्र बन्द कर लो। क्योंकि नेत्र खुले रहेंगे तो कोई-न-कोई रूप दीखेगा ही। यदि कहा जाय—'नेत्रोंसे कभी कोई रूप मत देखना।' तो फिर इसका अर्थ यही तो होगा कि नेत्र फोड़ लो या गान्धारीके समान सदा नेत्रोंपर पट्टी बाँधे रहो।

इसी प्रकार 'चित्तको गुणातीत करो' का आदेश है। चित्तको गुणातीत करो का अर्थ होगा कि या तो चित्तको ही छोड़ दो या चित्तको आमूल परिवर्तित कर दो।

सनत्कुमारने जो प्रश्न ब्रह्माजीसे किया था, उसका उत्तर हंस भगवानने दिया—

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः॥
गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥

—भागवत ११.१३.२५, २६

चित्त गुणोंमें आविष्ट होता है और गुण चित्तमें आविष्ट होते हैं; किन्तु गुण और चित्त दोनों जीवके शरीर हैं। चित्त ही जीव नहीं है। जीव तो मेरा स्वरूप है।

बराबर गुणोंका ही सेवन करनेसे चित्त गुणोंसे ही आविष्ट रहता है। गुण भी चित्तसे ही प्रकट होते हैं। अतः मेरे स्वरूपका आश्रय लेकर दोनोंको छोड़ दे।

यदि सृष्टिकी कोई आदि होती तो प्रश्न उठता कि चित्तका प्रथम निर्माण कैसे हुआ ? लेकिन सृष्टि अनादि है। अतः इसमें सर्वप्रथम नामकी कोई अवस्था ही नहीं है।

संसार ही नहीं, ऊपर-नीचेके सब लोक त्रिगुणात्मक ही हैं। नरकसे लेकर ब्रह्मलोकतक सब त्रिगुणोंका ही विस्तार है। अतः प्राणी कहीं भी रहे, सर्वत्र सर्वदा उसका काम गुणोंमें ही होता है। निद्रा, स्वप्न, जागरण सब गुणोंमें। इसलिए चित्तको तो गुणोंमें ही लगनेका अभ्यास है। कुछ वर्षोंका अफीम या शराबका अभ्यास ही छोड़ना बहुत कठिन होता है, जबकि अफीम या शराबका सेवन कोई दिन-भर लगातार नहीं करता, तो गुणोंका त्याग तो लगभग असम्भव है; क्योंकि जन्म-जन्मका और हर क्षणका अभ्यास चित्तका गुणोंमें ही लगे रहनेका है।

इसलिए जब गुणातीत होने—मुक्त होनेकी बात आयी तो यह तथ्य सामने आया कि जन्म-मरणका हेतु तो गुणोंमें आसक्त चित्त है। राग-द्वेष चित्तमें रहते हैं।

मन एव मनुष्यस्य कारणं बन्धमोक्षयोः।
गुणेषुसक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥ —भागवत ११.

मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण उसका मन ही है। मन यदि गुणोंमें आसक्त है तो बन्धनका कारण है और परम पुरुषमें लगा है तो मुक्त कर देनेवाला है।

चित्त और गुण दोनों जीवके शरीर हैं। आप प्रतिविम्बको, आभासको जीव मानो तो भी आभास चित्त नहीं है। चित्तमें आभास पड़ा है। चित्त

त्रिगुणात्मक है। चित्तमें गुण व्यक्त होते हैं। आपके भीतर इस समय सत्वगुण प्रबल है, रजोगुण है या तमोगुण, यह निर्णय चित्तकी ही वर्तमान अवस्थासे होगा या नहीं ?

निद्रा, आलस्य या प्रमादकी प्रवृत्ति कहाँ होगी ? क्रियाशीलता कहाँ जागेगी ? प्रसन्नता तथा ज्ञान कहाँ प्रगट होगा ? यह सब चित्तमें होगा।

'मद्रूप उभयं त्यजेत्।' इसके भीतर ज्ञान और भक्ति दोनोंके साधन आ गये।

चित्त और गुण—दोनों प्राकृत हैं, जड़ हैं। चेतनके तादात्म्यके बिना ये सक्रिय रह नहीं सकते। अतः जब व्यक्ति ब्रह्मावस्थान करता है, उस समय भी चित्त निष्क्रिय हो जाता है। समाधि प्राप्त होती है और जब साक्षी भावमें स्थित होता है—'मैं मन नहीं, चित्त नहीं, इनका द्रष्टा हूँ' इस स्थितिमें होता है, तब भी मन निष्क्रिय हो जाता है।

'अब इस समय चित्तमें अमुक गुण जाग रहा है।' इस प्रकार गुणोंका द्रष्टा होनेपर भी चित्त शान्त-समाहित हो जायगा।

'मैं न चित्त हूँ, न आभास।' इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' की ब्रह्माकार वृत्ति भी राग-द्वेषादिका समूलोन्मूलन कर देती है।

'रतं वा पुंसि मुक्तये।'

मनको न निरुद्ध किया गया, न मनके द्रष्टा-साक्षी बने। केवल मनकी आसक्तिका विषय बदल दिया गया। मन गुणोंमें अर्थात् गुणोंसे प्राप्त अवस्थाओंमें, विषयोंमें, संसारमें रत था। अब वह परम पुरुषमें रत हो गया। मनके चिन्तनका विषय बन गया भगवानका रूप, उनकी लीला। मन उनके नाम, गुण, रूप या लीलामें आसक्त हो गया। उनका चिन्तन करने लगा।

मनका जन्म-जन्मका स्वभाव कुछ सोचते रहनेका और मनका यह भी स्वभाव कि वह एक ही विषयमें देरतक नहीं लगे रहना चाहता। इसलिये बहुत कठिन है यह अभ्यास—

'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।'

कुछ भी सोचे ही नहीं। इसलिए चित्तवृत्ति निरोध सरल नहीं है। लेकिन मनकी प्रीतिकी दिशा बदल जाय तो मन अपने प्रिय विषयमें लगे रहना चाहता है। इसीको लक्ष्य करके तो गोस्वामी तुलसीदासजीने प्रार्थना की—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

कामीको जैसे स्त्री तथा स्त्री चिन्तन प्रिय होता है, यह कहना पर्याप्त नहीं लगा। क्योंकि कामी भी उस स्त्रीकी प्राप्तिके बाद, कामावेश शान्त होनेपर उस स्त्रीका चिन्तन नहीं करता। काम और क्रोध आवेश हैं। ये आते तो वेगसे हैं; किन्तु स्थायी नहीं रहते। ये चले जानेवाले हैं, शान्त हो जानेवाले हैं।

'लोभिहि प्रिय जिमि दाम।' यह हुई पूरी बात। लोभ और मोह स्थायी वृत्ति हैं और वस्तुतः दो हैं नहीं। प्राणीकी आसक्ति मोह कही गयी और पदार्थकी आसक्ति लोभ; किन्तु इसकी भी कोई विभाजक रेखा नहीं है। गाय, बैल या मोटर-मकानका लोभ भी होता है और इनसे मोह भी। वस्तुतः दोनों एक ही हैं और लोभका तो पेट भरा नहीं करता। इसमें तृप्ति ही नहीं है। अतः यही वृत्ति भगवानके प्रति बन जाय तो उसका नाम भक्ति हो जायगा। भक्ति भी तो—'प्रतिक्षणं वर्धमाना' है।

भगवानके नाम, रूप, गुण, लीलाके चिन्तनमें चित्त लग गया तो उसमें संस्कारोंका आना रुका नहीं, अतः चित्तका नाश, क्षय या निर्वाण तो नहीं होगा; किन्तु चित्तका दिव्यीकरण होने लगा है। उसमें अप्राकृत नाम-रूपादिके संस्कार एकत्र होने लगे। अब प्राकृत जगतमें तो उनके अनुसार जन्म देनेकी स्थिति ही नहीं रही। अतः परम पुरुषमें रति-प्रीति तो जन्म-मरणसे मुक्तिका कारण बनेगी ही।

इसलिए मनुष्य चाहे तटस्थ होकर या ब्रह्मात्मैक्य करके गुणों तथा चित्तसे पृथक हो जाय अथवा सगुण साकार परम पुरुषमें प्रीति कर ले। तब भी प्राकृत गुण तथा चित्तसे वह पृथक ही हो जाता है।

कठिनाई अधूरेपनमें आती है। जो संसारमें लगे हैं, वे तो लगे ही हैं।

उन्हें तो किसी कठिनाईका अनुभव नहीं है; किन्तु संसारासक्तिसे होनेवाले जन्म-मरणकी कठिनाईका अनुभव करके जो इधरसे विरक्त हो गये हैं, साधन-भजनमें लगे हैं या लगना चाहते हैं, वे जब दुःखी होते हैं—'कोई अनुभव नहीं हुआ।' तो कठिनाई आती है।

अनुभव चित्तसे होंगे। वह अनुभव किसी रूपके दर्शनका हो, ज्योति या विन्दुका दर्शन हो, कोई शब्द-श्रवण हो, गन्ध हो, रस हो, स्पर्श हो, कुछ भी हो। लेकिन अनुभव मात्र चित्तसे होगा। चित्तका अनुभव किसी गुणके आश्रित होगा। भले वह विशुद्ध सत्वगुण हो। लेकिन चित्त छूटा नहीं। अनुभवमें आसक्ति हुई तो चित्त और दृढ़ हुआ।

गुण और चित्त दोनों जीवके देह। दोनोंका त्याग होना चाहिये, तब गुणातीत हुआ। यह त्याग 'नेति-नेति' के मार्गसे हो सकता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा 'सर्वं खल्पिदं ब्रह्म' से हो सकता है और 'त्वमेवेदं सर्वम्।' से भी हो सकता है; किन्तु होगा परम पुरुषसे तादात्म्य या उनमें रति—भक्ति होनेसे ही।



चिन्तन-सरणि—

१. 'मैं' कौन हूँ ? मैं क्या हूँ ?

श्रीरमण महर्षि तो महावाक्य ही मानते थे—'कोऽहं' 'सोऽहं' का आप जप करते हों या इसे अजपा बनाकर श्वासमें चिन्तन करते हों, यह साधना है, उच्चकोटिकी साधना है। शास्त्र-सन्त समर्थित साधना है; किन्तु यह पूरी तब होती है, जब 'सः' को समझ लिया जाय, जान लिया जाय और 'अहं' को भी जानकर तब 'सः' के साथ 'अहं का एकत्व जाना जाय।

'तत्त्वमसि' महावाक्यका तात्पर्य क्या है ?

'तत्' अर्थात् सर्वव्यापक, निर्विकार अद्वितीय, देश-कालसे अनवच्छिन्न परमात्मा या ब्रह्म। 'त्वं' वह जिसे आप 'मैं' कहते हो। 'असि' अर्थात् दोनोंका एकत्व।

महापुरुषोंका अनुभव है कि विपरीतधर्मा तत्त्वोंका एकत्व हुआ नहीं करता। 'तत्' अर्थात् परमात्मा तो नित्य शुद्ध है; किन्तु परोक्ष है, अज्ञात है। 'त्वम्' अर्थात् 'मैं' साक्षादपरोक्ष है। सदानुभूत है; किन्तु अशुद्ध है। अतः परोक्ष, अज्ञात तत्त्वका साक्षादपरोक्ष अशुद्ध तत्त्वसे एकत्व सम्भव नहीं है।

एकत्वके लिये आवश्यक है कि परमात्मा ज्ञात बने, क्योंकि परमात्माको न अशुद्ध बनाया जा सकता और न 'मैं' को अज्ञात किया जा सकता। अतः परमात्मा ज्ञात बने और 'मैं' शुद्ध किया जाय तो दोनोंका एकत्व हो।

भगवत्साक्षात्कार पर्यन्त उपासना परमात्माको ज्ञात बनाती है। समाधि पर्यन्त योग 'अहं' को विशुद्ध कर देता है' तब दोनोंका एकत्व सम्पन्न होकर वस्तुतः ज्ञान होता है—'अहं ब्रह्मास्मि।'

२. 'कोऽहं' मैं कौन हूँ ? यही चिन्तन करें तो यह स्थूल शरीर मैं नहीं, यह बात जल्दी समझी जा सकती है। शरीर बचपनसे छोटा था, बड़ा हो गया। मोटा-पतला होता ही रहता है। जैसे नख-केश बदलते रहते हैं,

शरीरका भी कण-कण बदलता रहता है। मरनेपर शरीर यहीं छूट जानेवाला है। अतः इस शरीरमें मैं करना नासमझी है और जब शरीर मैं नहीं तो शरीरका नाम, रूप आदि भी मेरे नहीं, यह सीधी बात है।

३. मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ? इन्हें शास्त्र सूक्ष्म शरीर कहकर यही तो कहना चाहता है कि ये भी 'मैं' नहीं हैं। जैसे 'मैं' से भिन्न 'मेरा' स्थूल शरीर है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर भी मैं से भिन्न मेरा ही है।

मन बदलता रहता है। सङ्कल्प-विकल्प और रुचिको ही मन कहा जाता है और यह बराबर परिवर्तनशील है।

बुद्धि घटती-बढ़ती है या नहीं ? बचपनमें आपमें जितनी बुद्धि थी, अब भी उतनी ही है ? अध्ययनसे, सत्सगसे बुद्धि बढ़ती है और अनेक बार घट जाती है। आप जानते हो कि आप बहुत थके हो, चिन्तित हो तो बुद्धि ठीक काम नहीं करती। शरीर स्वस्थ हो, मन प्रसन्न हो तो बुद्धि ठीक काम करती है।

चित्त तो संस्कारोंकी राशिका नाम है। उसमें संस्कार बढ़ते ही रहते हैं। अवश्य अहङ्कारकी बात सोचने योग्य है।

हम आप भूल जाते हैं कि अहङ्कार वैयक्तिक सम्भव ही नहीं है। आपकी नाकमें, मुखमें, पेटमें जो आकाश है, वह आपका वैयक्तिक है ? आकाशमें खण्ड होने सम्भव हैं ? अहङ्कार तो आकाशसे भी सूक्ष्म है। अहङ्कार ही कारण है आकाशका। तब अहङ्कार कैसे वैयक्तिक बनेगा ?

४. बहुत पक्की पहिचान है एक। स्थूल द्रव्य केवल स्थूलको ही प्रभावित कर सकते हैं। विष, नशे आदि पाञ्चभौतिक पदार्थ हैं, अतः इनका प्रभाव पाञ्चभौतिक तत्त्वोंतक ही पड़ सकता है।

अब देखिये कि मन, बुद्धि, अहङ्कारादिपर नशेका, इन्जेक्शनका प्रभाव पड़ता है या नहीं ? नशेमें व्यक्ति अपनेको दूसरा ही कुछ मानने लगता है। अतः जिनपर नशेका प्रभाव पड़ता है, वे मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार भी भौतिक तत्त्व ही हैं। 'मैं' इनमें कोई नहीं हो सकता।

५. अब 'मैं' क्या बचा ? सत्तामात्र, विशुद्ध ज्ञान। ऐसी सत्ता जिसके सम्बन्धमें कुछ कहनेको कोई शब्द नहीं है। इस सत्ताको व्यापक परमात्माको दे दीजिये या उसमें विलीन कर दीजिए।

ब्रह्मैवेदं सर्वम्–

आस्तिकमात्र जानता है कि परमात्मा सच्चिदानन्द है। निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्मको भी सच्चिदानन्द कहना पड़ता है; क्योंकि वह असत् अज्ञान स्वरूप या अनानन्द नहीं है।

यह सच्चिदानन्द आप स्वयं हो; क्योंकि आपकी सत्ता है। आपमें ज्ञान है। आपमें आनन्द भी है। कम या अधिककी बात आगे करेंगे।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। ये त्रिगुण हैं सत्व, रजस और तम; किन्तु प्रकृति क्या स्वतन्त्र तत्त्व है ? प्रकृति अर्थात् स्वभाव और वह किसीका होता है। प्रकृति किसीकी ? परमात्माकी। तब प्रकृतिमें अपने गुण आये कहाँसे। सत् ही क्या प्रकृतिमें सत्ता—स्थूलता नहीं बना है ? चित् अर्थात् ज्ञान ही प्रकृतिका रजोगुण है, जो क्रियाका मूल है। आनन्द ही प्रकृतिमें सत्त्व बना है। बिना सत्त्व गुणके, बिना शान्तिके क्या सुख सम्भव है ?

जब प्रकृतिके तीनों गुण परमात्माके स्वरूप भूत सच्चिदानन्दके ही आभास हैं तो अच्छा होगा कि सच्चिदानन्दका ही विचार किया जाय; क्योंकि प्रकृतिके गुणोंका विचार करनेमें तो जड़ताका विचार करना होगा। वहिर्मुखता आवेगी। जड़त्व स्वयंमें ही भ्रम है। अतः भ्रान्तिमें भटकनेके स्थानपर प्रकाशके, परमात्माके उन्मुख होना ही समझदारी है।

सत् चित् और आनन्द जब परिच्छिन्न होते हैं, (वस्तुतः होतेसे लगते हैं, होते नहीं) तभी यह जगत प्रतीत होता है। अतः जगतकी दृष्टिसे, व्यक्तिको स्वीकार करके इनका विचार करें; क्योंकि सब साधन व्यक्तिके लिए हैं। व्यक्तित्वको स्वीकार करके हैं। इस प्रकार विचार करनेपर पहिली बात ज्ञात होती है—

सत्ताको परिमार्जित करना पड़ता है।

ज्ञानको पाना पड़ता है।

आनन्दको जगाना पड़ता है।

अब इनका पृथक्-पृथक विचार करें।

सत्ता वस्तुतः एक और अखण्ड है। यह बात पारमार्थिक सत्ता—परमात्माके सम्बन्धमें तो सत्य है ही, स्थूल जगतके सम्बन्धमें भी सत्य है। आप जानते हैं कि प्रत्येक पदार्थकी अन्तिम इकाई परमाणु है और परमाणुमें धनात्मक प्रोटान तथा उसके चारों ओर घूमनेवाले ऋणात्मक एल्क्ट्रान कण होते हैं। न्यूट्रान तो अप्रभावित कण है। एक प्रोटानके चारों ओर एलक्ट्रान कण कितने हैं, इस संख्यापर ही पदार्थ भेद होता है। अन्यथा एलक्ट्रान तथा प्रोटान कणोंमें परस्पर कोई वैषम्य नहीं है और इन कणोंको भी तोड़ दिया जाय तो केवल शक्ति बचती है। उष्णता, गति, प्रकाश और शक्ति (ऊर्जा) ये विज्ञानकी भाषामें पर्यायवाची नाम हैं।

समस्या तब आती है, जब अखण्डता भंग होकर परिच्छिन्नता आती है। भय, दुःख, शोक, अभाव, मृत्यु, विकृति आदि परिच्छिन्नताके दोष हैं। साधन इन दोषोंसे परित्राण पानेके लिए किया जाता है। अतः परिच्छिन्न होकर सत्ता जैसी हो रही है, उसका ही विचार करना है।

परिच्छिन्न सत्ता कहीं भी शुद्ध नहीं मिलती। उसका परिशोधन करना पड़ता है। सोना, चाँदी, लोहा आदि धातुयें ही नहीं, रत्न, मिट्टीके तेल जैसे द्रव भी अशुद्ध ही मिलते हैं। अन्न, फल, शाकादिको भी छीलना, बनाना पड़ता है। बिना परिशोधन, परिमार्जनके सत्ता (पदार्थ) उपयोगी नहीं होती।

सत्ताका स्वभाव ही है विकृत होते रहना, मलिन होते रहना। व्यावहारिक सत्ता निर्विकार नहीं हुआ करती। उसे कितना भी शुद्ध कर लिया जाय; फिर भी बराबर उसके परिष्कारका ध्यान रखना पड़ता है।

जैसे कोई शरीर, कितने भी बड़े महात्माका शरीर भी तभी स्वस्थ, स्वच्छ रहेगा, जब उसे उपयुक्त आहार, आचार तथा स्नानादि मिलता रहे। स्नान छोड़ दिया जाय, भोजन-पानी बन्द कर दिया जाय या अनियमित कर दिया जाय तो शरीर स्वस्थ रहेगा ? ऐसे ही अन्तःकरण भी सूक्ष्म शरीर है,

यह बात भूलने योग्य नहीं है। उसकी स्वच्छता, स्वस्थताका प्रयत्न भी बराबर करते ही रहना आवश्यक है।

बड़े-सेबड़े महात्माका शरीर रोगी होता है या नहीं ? रोग होगा तो कष्ट होगा और चिकित्सा आवश्यक होगी। ऐसे ही महात्मा चाहे जितना बड़ा हो, अन्तःकरणकी स्वच्छताका प्रयत्न छोड़ देगा तो वहाँ अस्वच्छता आवेगी। मानसिक रोग उत्पन्न होंगे और वे कष्ट देंगे।

मरनेके बाद तत्त्वज्ञानीका जन्म नहीं होगा, यह बात तो ठीक; किन्तु जीवनमें उसे क्रोध आवेगा तो भीतर जलन होगी या नहीं ? कोई कामना उठेगी तो बेचैनी, चिन्ता होगी या नहीं होगी ?

जो लोग मरनेके बाद मोक्षसे सन्तुष्ट हो जाते हैं और वर्तमान जीवनकी सम्हाल नहीं करते, उनके मोक्षमें भी सन्देह है; क्योंकि भविष्यका निर्माण वर्तमानकी नींवपर ही होता है। अतः साधक, शास्त्र और सच्चे सन्त अन्तःकरणकी उपेक्षाको प्रोत्साहन नहीं देते। अन्तःकरणको बराबर स्वच्छ, परिमार्जित किये जानेपर बल देते हैं।

बाहरी पदार्थोंका परिमार्जन, परिशोधन जलसे धोने, तपाने आदिसे होता है। अन्तःकरणके परिशोधनके तीन उपाय हैं—१. धर्माचरण, २. योग, ३ उपासना।

धर्माचरण अन्त.करणका अर्थात् आपकी सूक्ष्म-सत्ताका परिशोधन करता है। उसके मैलको दूर रखता है।

योग—ध्यान अन्तःकरणके कड़े मैलको भस्म करनेका उपाय है। यह वैसा ही है जैसे धातुको पिघलाकर उसका दोष या मिश्रण दूर किया जाता है।

उपासना दोनों काम करती है। उपासना स्वयंमें ही धर्माचरण है और उपासनामें एकाग्रता, ध्यान, प्राणायाम आदि अपने आप आ जाते हैं।

वेदान्तके-ज्ञानके मार्गमें जानेवाले साधक जानते हैं कि अविद्याकी निवृत्तिके लिए मल, विक्षेप और आवरण मिटना चाहिए। धर्माचरण मल

दोष दूर करता है। योगसे विक्षेप मिटता है और तब श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे आवरण भंग होता है। इसके बाद अविद्यानाशके बाद भी चित्तको शुद्ध रखनेका प्रयत्न तो चलता ही रहना चाहिए; क्योंकि जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख अशुद्ध अन्तःकरणमें उदित रह नहीं सकता।

अब चित् अर्थात् ज्ञानकी बात करें। ज्ञान भी एक और अखण्ड ही है; किन्तु मस्तिष्ककी शक्तिके अनुसार कम या अधिक दीखता है। जैसे बल्वकी शक्तिके अनुसार प्रकाश होता है; किन्तु बिजली तो एक ही है।

'ज्ञान अखण्ड एक सीतावर।'

एक अखण्ड ज्ञान तो परमात्मा ही है। व्यवहारमें आकर ज्ञानके मुख्य दो भेद हो जाते हैं—१. सविशेष विषयक ज्ञान और २. निर्विशेष विषयक ज्ञान।

यदि ज्ञान सविशेषके विषयमें है तो उस विषयके गुण-दोष जानकर उसमें प्रवृत्ति या उससे निवृत्ति होगी। इस प्रकार सविशेष विषयक ज्ञान कर्म अथवा प्रेमका प्रवर्तक या निवर्तक होता है। सम्पूर्ण संसारके विषयोंका ज्ञान, सब लौकिकविद्यायें सविशेष ज्ञान ही हैं।

निर्विशेषका ज्ञान कुछ नहीं करता, ऐसा भ्रम बहुत प्रचारित है; किन्तु बात ऐसी है नहीं। निर्विशेषके ज्ञानसे समस्त विशेषका बोध हो जाता है या नहीं ? जब सब विशेषका बोध हो गया तो उसमें आसक्ति, प्रवृत्ति, राग-द्वेष बने रहेंगे या निवृत्त हो जायँगे ?

जैसे आकाशकी नीलिमा दीखती है; किन्तु उसका बोध हो गया है। वह कोई तथ्य है, यह भ्रम मिट गया है तो कोई हवाई जहाज़में बैठकर वह नीलिमा ढूँढ़ने जाता है ?

जैसे पता है कि मरुस्थलमें सूर्य किरणोंमें दीखनेवाला जल (मृगमरीचिका) जल नहीं है। तब प्याससे तड़पता व्यक्ति भी पानी लेने उधर बढ़ना चाहेगा ?

निर्विशेषके ज्ञानसे जगत और जगतके भोगोंका, इनमें सुख-बुद्धिका

बोध नहीं होता, यह तो कोई शास्त्र या संत कहते नहीं हैं। इनका बोध हो जाता है, ये स्वप्नके समान मिथ्या जान लिए जाते हैं तो इनमें आसक्ति, इनको पाने बचानेकी प्रवृत्ति बची रहेगी ? निर्विशेषका ज्ञान भी तो इसी बुद्धि-अन्तःकरणमें होगा। तब उससे अन्तःकरण अप्रभावित रहेगा, ऐसा सम्भव नहीं है।

ज्ञान प्रकाश धर्मा है। ज्ञानका स्वभाव कुछ बनाना या मिटाना नहीं है। जैसे प्रकाश कमरेको स्वच्छ या गन्दा नहीं करता। प्रकाश कमरा जैसा है, वैसा दिखा देता है। लेकिन कमरा नहीं है, केवल अन्धकारके कारण वहाँ कमरे जैसा कुछ लग रहा था, यह प्रकाशने दिखला दिया तो कमरेके प्रति आकर्षण दूर हो जायेगा या नहीं।

ज्ञानको पाना पड़ता है। भोगयोनिके सब प्राणी अपने जीवन-निर्वाहके लिए आवश्यक ज्ञान जन्मके साथ लेकर आते हैं। पक्षीको घोंसला बनाना सिखलाना नहीं पड़ता। बन्दरका काम पानीमें उतरे बिना चल सकता है; किन्तु वह जन्मसे अच्छा तैरना जानता है। लेकिन मनुष्य कर्मयोनिका प्राणी है। इसलिए इसे सब आवश्यक ज्ञान यहाँ जीवनमें दूसरोंसे प्राप्त करना सीखना पड़ता है।

सब व्यावहारिक ज्ञान हम आप दूसरोंसे सीखते हैं। बोलना, चलना ही नहीं, भोजन करना भी हमें सीखना पड़ा है। मनुष्य शिशुको तो माताका दूध पीना भी सिखलाना ही पड़ता है। इस प्रकार संसारकी सब विद्यायें सीखी जाती हैं। कुछ प्रत्यक्ष सीखी जाती हैं और कुछ अप्रत्यक्ष—पुस्तक आदिके माध्यमसे।

पारमार्थिक ज्ञान अपने आप प्राप्त हो जायगा, इस भ्रममें किसीको नहीं रहना चाहिए। इसीलिए गुरु अनिवार्य है। इसीलिए गुरुका महत्त्व बहुत अधिक—ईश्वरसे भी अधिक है।

एकान्तमें, एकाग्र होकर समाधि तो लग सकती है; किन्तु कोई नवीन ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ करता। ज्ञान सदा किसीसे पाना ही पड़ता है।

इसमें एक ही अपवाद है और वह यह कि ईश्वर सर्वसमर्थ है। वह

अन्तर्यामी सबके भीतर ही बैठा है। वह बिना बाहरी निमित्तके भी ज्ञान दे सकता है। गीतामें श्रीकृष्णने कहा—

'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।'

ईश्वर परम दयालु, समदर्शी है; किन्तु सभीको ज्ञान देता नहीं है, यह बात तो प्रत्यक्ष है। गीताने भी ज्ञान देनेकी शर्त तो लगायी ही है। अतः ईश्वर ज्ञान देगा भी तो भक्तिसे देगा। बिना भक्तिके ईश्वर ज्ञान नहीं देगा। अत: भक्तिका, आनन्दका विचार करें।

आनन्द एक और अखण्ड है, इस सम्बन्धमें तो कोई विवाद है ही नहीं। यह एक और अखण्ड आनन्द ज्ञानस्वरूप है और है—उसकी सत्ता है, अतः उसे सच्चिदानन्द कहते हैं। वही परमात्मा है।

यह आनन्द ही प्रकृतिमें सत्त्वगुण बना और प्राणियोंको सुखके रूपमें उपलब्ध होता है। अब यहीं सुख और आनन्दका अन्तर समझ लीजिये। जो किसी इन्द्रियके माध्यमसे उपलब्ध होता है, वह सुख है। जो इन्द्रिय और ऐन्द्रियक विषयोंके बिना ही प्राप्त होता है, वह आनन्द है। ध्यानमें, समाधिमें, निद्रामें भी आनन्द ही उपलब्ध होता है।

आनन्द आपके भीतर है। वह बाहरसे नहीं पाया जाता। सुखके रूपमें भी जब आप उसे पाते हैं तो विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि) के माध्यमसे आप उसे जगाते ही हैं। सुख विषयमें नहीं होता। किसीको खटाई स्वादिष्ट लगती है, किसीको बुरी। यदि खटाईमें सुख हो तो सबको उससे सुख मिले।

'अनुकूल वेदनीयं सुखम्।'

अपने अनुकूल अनुभवका नाम सुख और प्रतिकूल अनुभवका नाम दुःख है। अनुकूलता या प्रतिकूलता आपकी रुचिके अनुसार होगी। अतः सुख आन्तरिक वस्तु है। विषयोंको माध्यम बनाकर सुखको जगाया जाता है। इसका अर्थ है कि सुख आपके भीतर है, सदा है, असीम है; किन्तु प्रसुप्त पड़ा है। उसे यदा-कदा आप किसी माध्यमसे थोड़ा जगा पाते हो।

यह विषयोंके माध्यमसे मिलनेवाला सुख पराधीन है। इसीलिए

अन्तमें दुःखका कारण बन जाता है। अनुकूल विषय मिले और इन्द्रियमें शक्ति हो तो उससे सुख मिले।

भोग—विषय अल्प हैं। संसारके या भारतके ही प्रत्येक परिवार (दम्पति) को सुविधापूर्ण छोटा मकान भी दे पाना सम्भव नहीं है। पदार्थ तो देश, काल तथा परिस्थितिके अनुसार मिलेंगे। वह भी प्रारब्धके अनुसार ही मिलेंगे। उनको भोगनेकी शक्ति इन्द्रियोंमें सब समय नहीं रहती। अतः ऐन्द्रियक भोगोंमें पराधीनता दूर हो नहीं सकती और 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।'

यहीं सुखका स्वरूप समझ लेना ठीक होगा। सुख नौ प्रकारका होता है। सात्त्विक, राजस और तामस तीन मुख्य भेद हैं और इनके भी तीन-तीन भेद हैं। सात्त्विक सुख—१. धर्मका सुख, २. शान्तिका सुख, ३. साधनका सुख। किसीका भला करके, किसीको कुछ देकर सुख होता है। भजन-पूजन ठीक-ठीक चलता रहे तो भी सुख होता है।

राजस सुख—१. भोगका सुख, २. अभिमानका सुख कि हमारे पास इतना धन, ऐसा भवन, वाहन या पद है—आदि। ३. अभ्यासका सुख। प्रतिदिन जो कार्य (व्यायामादि, स्नान भोजनादि) करते हैं वह ठीक-ठीक चलता रहे।

तामस सुख—१. निद्राका सुख, २. प्रमादका (ताश, शतरंज, सिनेमादि समय काटनेका) सुख, ३. अधर्मका (दूसरोंको कष्ट देकर, अपमानित करके होनेवाला) सुख।

इनमें-से तामस सुखमें-से एक आवश्यक निद्रा रखने योग्य है। शेष दो सर्वथा त्याज्य हैं। राजस सुखमें-से अभिमानका सुख त्याज्य है। आवश्यक भोग तथा अभ्यास रहना चाहिए। सात्त्विक सुख कोई त्याज्य नहीं है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि प्रसादजम् ॥ —गीता०

सात्त्विक सुख चित्त और बुद्धिकी निर्मलतासे प्राप्त होता है और पहिले यह विषके समान कड़वा—अप्रिय लगता है; किन्तु परिणाममें अमृतके समान होता है।

सुख मात्रके लिए नियम यही है कि—

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति । —गीता०

आपको आज जो वस्तु या क्रिया बहुत सुखद लगती है, वह आपके अभ्याससे सुखद बनी है । अन्यथा कोई नशा, मिर्च, खटाई आदि शिशुको देकर देखिये । शिशु तो पहिले अन्न भी थूक देते हैं । अतः जब अभ्याससे ही रुचि बनती है और रुचिके अनुकूल होनेसे सुख मिलता है तो रुचिका परिष्कार किया जाना चाहिए । सात्त्विक सुख लेनेका अभ्यास करना चाहिए ।

रुचिके अनुकूल होनेपर तो पदार्थ स्वादिष्ट होता ही है, आवश्यकता भी उसे स्वादिष्ट बना देती है । लोग कहते हैं—'स्वाद पदार्थमें नहीं, भूखमें होता है । लेकिन भूख हमारी विवशता ही तो है ।

पदार्थकी महत्ता नहीं यदि वह भूखमें स्वादिष्ट लगता है । पदार्थकी महत्ता नहीं यदि वह रुचिके अनुकूल प्रिय लगता है । पदार्थको तो भूख—आवश्यकता या रुचि सुखद बनाती है ।

एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य और मधुर तथ्य कि आपकी रुचि नहीं है, भूख नहीं है; किन्तु पदार्थ प्रिय बन जाता है । आपका नन्हा बालक हँसता-किलकता आता है और आपको एक पत्ता या रद्दी कागज देता है । आप पुलकित हो उठते हो । उस पत्ते या कागजकी आवश्यकता है आपको ? उसके प्रति कोई रुचि है आपमें ? दोनों नहीं और आप सुप्रसन्न । यह है प्रेम । इन्द्रियजन्य भोगोंसे निरपेक्ष आनन्द देता है प्रेम और इसका आपको अनुभव है ।

इस प्रेमको यदि जीवनमें जगाया जा सके तो मरनेके बाद मुक्तिकी चर्चा ही क्यों उठे । जीवन ही आनन्दमय हो जाय; किन्तु प्रेम बाहरी प्राणि-पदार्थोंमें लगकर तो विकृत हो जाता है । वह काम, लोभादि बनकर उत्पीड़क हो जाता है । प्रेम हृषीकेशमें होकर ही शुद्ध और पूर्ण होता है ।

इस प्रेमको पानेका भी क्रम है—१. **श्रद्धा**—शास्त्रमें, सत्पुरुषमें, सद्ग्रन्थमें । २. रुचि—श्रद्धा होनेपर पठन, श्रवण, सेवा होनेसे रुचि होती है । ३. रुचि ही परिपक्व होकर प्रीति या भक्ति बनती है और भक्ति—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणं वर्धमानम् ॥

—नारद भक्तिसूत्र



चिन्तन-चिन्तामणि-

गीता-चिन्तन

विश्वतरु–

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।

—गीता १५.१

प्राहु—का सीधा अर्थ है कि इस विश्वतरुको अव्यय कहा जाता है; किन्तु यह अव्यय है नहीं । अव्यय होता तो कटता ही नहीं; किन्तु इसे तो आगे 'असङ्गशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा' कह रहे हैं ।

इस श्लोकमें कई बातें अन्वेषणीय हैं—

१. ऊर्ध्वमूल क्या है ?

२ छन्द अर्थात् वेदमंत्र पत्ते कैसे हैं ? पत्ते तो वृक्षको ढके रहते हैं; किन्तु वेममन्त्रोंसे तो विश्वका कोई सम्बन्ध ही प्रत्यक्षमें नहीं दीखता । विश्वके बहुत अधिक लोग, बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी वेद-मन्त्र नहीं जानते; किन्तु इससे उनके जीवन-व्यवहारपर तो कोई प्रभाव पड़ता नहीं ।

३. 'यस्तं'के द्वारा किसे कहा गया ? जिसे जानकर 'वेदवित्' हो जाता है ।

इसके बादके ही श्लोकसे इस श्लोकमें कुछ प्रत्यक्ष असंगति-सी लगती हैं । दूसरे श्लोकका विचार आवश्यक है इस श्लोकका अर्थ-विचार करनेके लिए ।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।।

—गीता १५.२

इस विश्वतरुकी शाखाएँ ऊपर-नीचे (ऊपर स्वर्गादि और नीचे नरकादि तक) सब ओर फैली हैं । यह गुणों (सत्व, रज, तम)से बढ़ा है । विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ही इसके (लुभावने) किसलय हैं ।

मनुष्य लोकमें (मनुष्य योनिमें) कर्मानुबन्धी (कर्मानुसार फल देनेवाली) इसकी जड़ें (मर्त्य लोक में) चारों ओर फैली हैं ।

यह दूसरा श्लोक बहुत स्पष्ट है । विश्वतरुके इस वर्णनमें कहीं कोई सन्देह उठानेको स्थान नहीं है, लेकिन पहले श्लोकसे जो बातें इसमें भिन्न कही गयी हैं, वे विचारणीय हैं ।

१. पहिले श्लोकमें कहा गया—'ऊर्ध्वमूलम्'

अब दूसरे श्लोकमें कहा गया—'अधश्चमूलानि' ।

इसका तात्पर्य है कि ऊपरतक ही जड़ है और नीचे अनेक जड़ें हैं ।

अश्वत्थ होनेपर भी यह विश्वतरु बटवृक्षके समान जान पड़ता है और वह भी विचित्र । वटवृक्षमें एक वास्तविक मूल होता है । फिर उसकी जटाएँ लटककर पृथ्वीमें अनेक मूल बना देतो हैं; किन्तु जटाएँ उसी ओर लटकती और मूल बनाती हैं, जिधर वास्तविक मूल होता है । लेकिन इस अश्वत्थका मूल ऊपर है और लटकी जटाओंसे बने मूल वास्तविक मूलकी विपरीत दिशामें नीचे हैं ।

२. 'विषय प्रवालाः' ध्यान देने योग्य है । नियम यह है कि प्रवाल -किसलय ही पुष्ट होकर पत्ते हो जाते हैं । पहिले श्लोकमें 'छन्दांसि यस्य पर्णानि' इन पत्तोंका, वेदमन्त्रोंका विषयरूप किसलयसे सम्बन्ध होना चाहिए । यह सम्बन्ध ढूँढ़कर ही प्रथम श्लोकका अर्थ स्पष्ट होगा ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूपी प्रवाल लुभावने तो हैं; किन्तु ये सब विहित या अविहित होते हैं । वेद-समर्थन न मिले तो विषय अविहित—त्याज्य हो जाते है । वेद-शास्त्रका समर्थन मिलनेपर ही विषय ग्राह्य होकर पुष्ट होते हैं । अतः वेदमन्त्रोंका विषयोंसे सम्बन्ध तो है ।

वेदका अर्थ है ज्ञान । लौकिक-पारलौकिक समस्त ज्ञान वेदोंमें निहित हैं । अतः सब विषयोंका परिपुष्टरूप वेदमन्त्र हैं, यह कहा जा सकता है ।

'यस्तं वेद स वेदवित्' यही गुत्थी है । यह सुलझ जाये तो प्रथम श्लोकका अर्थ स्पष्ट हो जाय ।

'यस्तं' में किसे 'तं' कहा गया ?

इसका साधारण उत्तर तो यह है कि जिसे इस विश्वतरुका मूल कहा गया, 'उर्ध्वमूलम्'में जिसका वर्णन है, उसीको 'तं' भी कहा गया।

ऐसा भी अर्थ देखनेमें आया है—'यस्तं अश्वत्थं वेद स वेदवित्' जो इस उर्ध्वमूलको जान ले वह वेदवेत्ता है। लेकिन यह अर्थ आपको ठीक लगता है ? इस अश्वत्थरूप संसारके रहस्योंको प्रकट करनेवाले न्यूटन, आइन्स्टीन आदि बड़े वैज्ञानिकोंमें कोई आपको वेदवेत्ता लगता है ?

यह अश्वत्थ या संसार तो भौतिक है। इसे जाननेवाला भौतिक जगतको जाननेवाला होगा। वह वेदवेत्ता तो होनेसे रहा।

'ऊर्ध्वमूलम्'का अर्थ कुछ टीकाकारोंने प्रकृति किया है और कुछने परमात्मा : संसारतरु प्रकृतिसे प्रकट हुआ, यह बात ठीक है; किन्तु प्रकृति और प्राकृतका ज्ञान होनेसे कोई वेदवेत्ता नहीं हो सकता।

परमात्मा स्वरूपतः तो कार्यकारणातीत है; किन्तु जब ब्रह्मसूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' कहता है तो उस परमात्माको जगत्कारण कह सकते हैं। भले तटस्थनिमित्तोपादान कारण कहें।

प्रश्न फिर वही है कि परमात्माका ज्ञान होनेसे ज्ञानीपुरुष वेदवेत्ता हो जाता है ? यह श्रुति अवश्य है कि 'एकस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति' उस एक परमात्माको जान लेनेसे सब कुछ जान लिया जाता है; किन्तु स्वयं श्रुति ही उस तत्त्वज्ञको वेदवेत्ता नहीं मानती लगती।

तत्त्वज्ञानके लिए जिज्ञासुको श्रुतिमें आदेश है—

'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।'

हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय (वेदज्ञ) एवं ब्रह्मनिष्ठके समीप जाय।

यदि प्रत्येक ब्रह्मनिष्ठ-तत्त्वज्ञ वेदवेत्ता होता ही है, यह मान लें तो श्रोत्रियं कहना व्यर्थ हो जायगा।

संत कबीर, गुरुनानक, जरथुस्त, मूसा, ईसा आदि महापुरुष तत्त्वज्ञानी

नहीं थे, ऐसा कहनेवाला दुस्साहसी माना जायगा। लेकिन इनमें कोई वेदवेत्ता नहीं था, यह हम-आप सब जानते हैं।

यहाँ एक तथ्यकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। मुझसे पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराजने एक बार कहा था—'समस्त वेद सूर्यमण्डलमें हैं।'

महर्षि याज्ञवल्क्यने भगवान सूर्यसे शुल्कयजुर्वेद प्राप्त किया था, यह तथ्य वेदोंसे थोड़े भी परिचित सब जानते हैं।

वेद अपौरुषेय हैं। मन्त्रद्रष्टाको ऋषि करते हैं। ऋषि मन्त्रस्रष्टा अर्थात् मन्त्र बनानेवाले नहीं हैं। मन्त्र पहलेसे न हों तो कोई उन्हें देख सकेगा ? कोई ऋषि मन्त्र-दर्शन करता है तो कहाँ करता है ? समाधिमें, अपने हृदयमें भले करें; किन्तु मन्त्र कहाँ होता है ?

इसका उत्तर है सूर्य रश्मिमें। जहाँ कम्पन होता है, वहाँ शब्द होता है, यह सामान्य नियम है। सूर्यकी रश्मियोंमें गति है तो उस गतिसे शब्द भी होता होगा। वही शब्द वेदमन्त्र है। सूर्य-रश्मिमें मनका संयम करके ऋषि उस शब्दका साक्षात्कार करके मन्त्रद्रष्टा होता है। इस प्रकार समस्त वेद सूर्यमण्डलमें हैं।

'छन्दांसि यस्य पर्णानि' अब बहुत स्पष्ट हो गया। वेदमन्त्र सूर्य-रश्मियोंमें हैं और पृथ्वीकी सम्पूर्ण हरीतिमा सूर्यकी किरणोंसे ही है या नहीं ? संसारके सब वृक्ष-लता, तृण-वीरुध बिना सूर्यरश्मिके पत्ते दे पावेंगे। बिना पत्तेके कङ्कालप्राय वृक्ष आपने पतझड़में देखा होगा। पूरा संसार सदाके लिए कङ्काल हो जाय यदि सूर्यकी किरणे इसे न मिलें।

'छादनात् छन्दः' जो आच्छादित किये रहे, उसे छन्द कहते हैं। वृक्ष पत्तोंसे आच्छादित होता है। उन पत्तोंका जीवन सूर्यकी किरणोंमे है। अतः किरणोंके कम्पनमें जो अज्ञात शब्द है, उसे ही छन्द कहते हैं। वही वेदमंत्र हैं।

अब 'ऊर्ध्वमूल'का अर्थ स्पष्ट हो गया। वह मूल भगवान सूर्य हैं। यह जगत उन हिरण्यगर्भसे उत्पन्न हुआ, यह शास्त्रीय प्रतिपादन तो है ही,

वैज्ञानिक तथ्य भी यही है कि सूर्यसे ही हमारी पृथ्वी और हमारे ब्रह्माण्डके मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि आदि ग्रह उत्पन्न हुए। अब भी ये सब सूर्यके आकर्षणसे आकर्षित उसीके चारों ओर घूम रहे हैं।

'यस्तं वेद स वेदवित्' को समझना अब कठिन नहीं होना चाहिये। यहाँ 'तं' के द्वारा भगवान सूर्यको सूचित किया गया है। उन सूर्य भगवानको जो जान लेता है, उनकी एक किरणके शब्दका भी साक्षात्कार कर लेता है, वह मन्त्रद्रष्टा ऋषि, वेदवेत्ता हो जाता है। यह मन्त्र-दर्शन गीताका विषय नहीं था, अतः दूसरे श्लोकसे श्रीकृष्ण विश्वतरुके भौतिक रूपका वर्णन करके उसको काटनेका उपाय वर्णन करने लगे।



चत्वारो मनवः—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ गीता १०.६

बहुत सीधा अर्थ है—पूर्वे अर्थात् पहिले मन्वन्तरके सातों महर्षि (सप्तर्षिगण) और चार (वे) मनु जो (मेरे—भगवानके) भाव (स्वरूप) से अथवा मानस उत्पन्न हैं, जिनसे इस लोककी सब प्रजा उत्पन्न हुई है।

'पूर्वे सप्त महर्षयः' के अर्थमें कोई दो मत नहीं है। इस वर्तमान मन्वन्तरके सप्तर्षि हैं—१. कश्यप, २. अत्रि, ३. वशिष्ठ, ४. विश्वामित्र, ५. गौतम, ६. जमदग्नि, ७. भरद्वाज। इनमें-से केवल महर्षि अत्रि ब्रह्माजीके मानस-पुत्र हैं। वशिष्ठजी तो निमिके शापसे देह त्यागकर मैत्रावरुणके पुत्र हो चुके हैं। अतः इस कल्पके प्रथम मन्वन्तर स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षि-गणोंका नाम भगवानने लिया; क्योंकि यहाँ भगवान सृष्टिके मूल पुरुषोंकी गणना कर रहे हैं।

प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षि थे—१. मरीचि, २. अत्रि, ३. अंगिरा, ४. पुलस्त्य, ५. पुलह, ६. क्रतु, ७. भृगु। ये सब महर्षिगण ब्रह्माजीके मानस-पुत्र हैं।

'चत्वारः' का अर्थ अधिकांश टीकाकारोंने ब्रह्माजीके सर्वप्रथम मानस-पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार किया है। लेकिन ये चारों ब्रह्मकुमार तो सदा पाँच-छः वर्षकी आयुके बालक ही बने रहते हैं। इन जन्म-जात परमहंसोंसे कोई प्रजा उत्पन्न नहीं हुई। ब्रह्माजीने सबसे पहिले इन कुमारोंको उत्पन्न करके आज्ञा दी—'प्रजा उत्पन्न करो !'

'प्रजाः सृजत पुत्रकाः !' ब्रह्माजीकी इस आज्ञाको चारों कुमारोंने अस्वीकार कर दिया। 'तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो।' —भागवत ३.१२.५

गीतामें यहाँ श्रीकृष्ण 'येषां लोक इमाः प्रजाः' गिना रहे हैं। अतएव यहाँ 'चत्वारः' के द्वारा सनकादि कुमारोंका नाम गिनाना किसी प्रकार संगत नहीं है।

'चत्वारो मनवः' में मनवः का विशेषण 'चत्वारो' स्पष्ट दीखता है; किन्तु टीकाकारोंको ऐसा अर्थ करनेमें एक कठिनाई दीखती है। भगवान सृष्टिके मूल पुरुषोंको 'मद्भावा मानसा जाता' बतलाया है और ठीक बतलाया है; क्योंकि जो किसी दूसरे माता-पिताकी सन्तान है, वह मूलपुरुष नहीं हो सकता। मूलपुरुष तो स्वयं श्रीहरि हैं; अथवा उनसे जो उत्पन्न हों वे मूल पुरुष। मनुओंमें अनेक सामान्य राजाओंके पुत्र हैं। अतः टीकाकारोंने 'चत्वारो' को पृथक कर दिया और 'मनवः' से सब मनुओंको ले लिया।

एक कल्पमें चौदह मनु होते हैं। वर्तमान श्वेतवाराह कल्पमें अबतक सात मनु हो चुके हैं। जो सात मनु आगे होनेवाले हैं—उनको भी गणनामें लिया जाना चाहिये; क्योंकि उनमें कई बहुत पहिले उत्पन्न हो चुके हैं। भले उनको मनुपद कभी भी मिले, उनकी सन्तान—परम्परा तो लोकमें हो ही सकती है।

मनुओंकी उत्पत्तिके वर्णन पुराणोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं। कल्प-भेदसे ये वर्णन तो ठीक हैं; किन्तु जब गीतामें वर्णित 'चत्वारो मनवः' ढूँढ़ना है तो प्रश्न उठता है कि किस पुराणके अनुसार मनुओंकी उत्पत्तिको प्रमाण मानकर ढूँढ़ा जाना चाहिये ?

श्रीमद्भागवतको गीताकी व्याख्या कहा जाता है। श्रीमद्भागवतमें गीताकी चर्चा है। प्रथम स्कन्धमें आया—

गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत्संग्राममूर्धनि। १.१५.३०

एकादश स्कन्धमें उद्धवके द्वारा विभूतियोंके सम्बन्धमें जिज्ञासा करनेपर भगवानने स्वयं कहा—

एवमेतहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
युयुत्सना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै॥ ११.१६.६

इससे गीताका श्रीमद्भागवतसे घनिष्ट सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। अतः गीताके सम्बन्धमें मनुओंकी उत्पत्ति ढूँढ़ना हो तो श्रीमद्भागवतके अनुसार ढूँढ़ना ही उचित होगा।

कौनसे मनु किससे उत्पन्न हुए, यह श्रीमद्भागवतके अनुसार संक्षिप्त रूपमें देखलें—

१. स्वायम्भुव मनु—'कस्य रूपमद् द्वेधा' ३.१२.५२ ब्रह्माके मानस-पुत्र हैं।
२. स्वारोचिष—स्वारोचिषो द्वितीयस्तु मनुरग्नेः सुतोऽभवत्। ८.२.१९
३. उत्तम—तृतीय उत्तमो नाम प्रियव्रत सुतो मनुः। ८.२.२३
४. तामस—चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः। ८.२.२७
५. रैवत—पञ्चमो रैवतो नाम मनुस्तामससोदरः। ८.५.२
६. चाक्षुष—षष्ठश्च चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुषो नाम वै मनुः। ८.५.७
७. श्राद्धदेव—मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः। सप्तमो–८.१३.७
८. सावर्णि—अष्टमेऽन्तर आयाते सावर्णिभविता मनुः। ८.१३.११

यहींपर इनकी उत्पत्ति कथा दी गयी है कि ये भगवान सूर्यकी छाया नामकी पत्नीके पुत्र हैं। (८.१३.८-१०)

९. दक्षसावर्णि—नवमो दक्षसावर्णि मनुर्वरुणसम्भवः। ८.१३.१८
१०. ब्रह्मसावर्णि—दशमो ब्रह्मसावर्णिरुपश्लोकसुतो महान्। ८.१३.२१
११. धर्मसावर्णि—इनके पिताका नाम दिया नहीं है।
१२. रुद्रसावर्णि— " " "
१३. देवसावर्णि— " " "
१४. इन्द्रसावर्णि— " " "

इस विवरणमें अन्तिम चार मनुओंकी उत्पत्ति किससे हुई—यह उल्लेख श्रीमद्भागवतमें नहीं है।

उत्तम, तामस और रैवत ये तीन मनु महाराज प्रियव्रतके पुत्र हैं और राजा चक्षुके पुत्र चाक्षुष तथा उपश्लोकके पुत्र ब्रह्म-सावर्णि हैं। दक्षसावर्णि लोकपाल वरुणके पुत्र हैं। इस प्रकार दस मनुओंको मूल पुरुषकी गणनामें नहीं लिया जा सकता।

प्रथम मनु स्वायम्भुव ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं। अतः ये 'मानसाः' की गणनामें तो हैं ही, 'मद्भावाज्जाता' भी हैं; क्योंकि ब्रह्माजीका भगवानसे अभेद है।

भगवान सूर्यको हम-आप सब नारायण कहते ही हैं। सूर्यको नारायण माननेमें कोई विवाद नहीं है। इसलिए सूर्यके दोनों पुत्र जो मनु हैं—श्राद्धदेव (वैवस्वत) और सावर्णि, ये दोनों ही 'मद्भावा' की गणनामें आते हैं। वैसे भगवान सूर्यके चार पुत्र और हैं—यमराज, शनैश्चर और अश्विनीकुमार द्वय; किन्तु इनमें कोई मनु नहीं है।

अग्नि भगवानके मुख हैं, भगवत्स्वरूप हैं, इसमें सन्देहके लिए स्थान नहीं है। अतः अग्निके पुत्र द्वितीय मनु स्वारोचिष 'मद्भावा' की गणनामें ही आते हैं।

इस प्रकार चार मनु 'मद्भावा मानसा जाताः' की गणनामें आ गये—

१. स्वायम्भुव मनु—मानसा जाता। ब्रह्माके मानस-पुत्र।
२. स्वारोचिष मनु—मद्भावा जाता। अग्नि-पुत्र।
३. श्राद्धदेव (वैवस्वत) मनु— " । सूर्य-पुत्र।
४. सावर्णि मनु— " " । सूर्य-पुत्र।

अतः ये चारों मनु मूलपुरुष हैं। गीतामें श्रीकृष्णने 'चत्वारो मनवः' कह करके इन्हीं चारोंका संकेत किया है, ऐसा लगता है।



जन्मका कारण—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ गीता ७.२७

इच्छाका अर्थ राग। सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश, संयोग-वियोग, जनन-मरण आदि सब द्वन्द्वोंमें मोह—अविवेक उत्पन्न होता है राग या द्वेषसे। शरीरसे भी राग अविवेकजन्य ही है।

महर्षि पतञ्जलिका योगदर्शन कुल पाँच क्लेश बतलाता है—

'अविद्याऽस्मिता राग-द्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।'

अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं। यही सम्पूर्ण क्लेशोंकी जड़ हैं।

शरीरको 'मैं' मान लिया, अतः शरीर और उसके नाम तथा सम्बन्धोंको लेकर राग-द्वेष होने लगा।

शरीर जो घटता-बढ़ता रहता है, रूप बदलता जाता है, मैं बना ही इसलिए कि मैं दूसरोंसे पृथक हुआ और कन्हाईका नहीं रहा। कन्हाई सर्वरूप, सर्वमय—यह भूल गया।

यह भूल अविवेक है। यही अविद्या है। योगदर्शन कहता है—

'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्।'

अविद्याके खेतमें ही अस्मिता, राग-द्वेष तथा अभिनिवेशकी फसल उगकर खड़ी है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि—'सब प्राणी (पदार्थ भी वस्तुतः प्राणी ही हैं; क्योंकि सत्ता एक और अखण्ड है, चेतन है।) संमोह—अज्ञानके कारण सर्ग—जन्म-मरणको प्राप्त होते रहते हैं।

यह संमोह कहाँसे पोषण-जीवन पाता है?

इसके उत्तरसे पहिले देखिये कि यह रहता कहाँ है?

इसका आश्रय है द्वन्द्व। उत्पन्न होता है यह राग या द्वेषसे।

आप चाहे जितने बुद्धिमान हों, विवेकशील हों; किन्तु यदि कहीं आपका राग या द्वेष है तो उस राग या द्वेषके विषयमें आपकी बुद्धि ठीक-ठीक विचार कर ही नहीं सकती। उसके सम्बन्धमें विचार करते समय आपकी बुद्धि अनजानमें ही आपके राग या द्वेषसे प्रभावित हो जाती है। उन विषयोंमें आप मूढ़ होते हैं।

इस मनोवैज्ञानिक तथ्यको अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शत्रुके सद्गुण और प्रियके अवगुण दीखा नहीं करते।

इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर न्यायालयोंका नियम बना है कि न्यायाधीश उस विवादका निर्णय करनेका अधिकारी नहीं है, जिसके दो पक्षोंमें-से किसी एकसे उसकी शत्रुता या कोई निजी सम्बन्ध हो।

इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर पहिले वैद्य और ज्योतिषी अपनी तथा अपने सम्बन्धियोंकी चिकित्सा या उनके सम्बन्धमें निर्णय करनेसे बचते थे।

राग और द्वेषसे उत्थित होता है मोह और मोह ही जन्म-मरणका कारण है। मोह, अविद्या, अविवेकको आप पर्यायवाची शब्द मानलें तो बात सीधी हो जायगी। राग और द्वेषकी रस्सीसे बँधा जीव जन्म-मरणके चक्रमें भटकता रहता है।

आजकल देशमें भगवानोंकी भीड़ अवतरित हो गयी है। लगभग तीन सौ व्यक्ति स्वयं या अपने अनुयायियों द्वारा अपनेको भगवान घोषित करा रहे हैं। गत तीस-चालीस वर्षोंमें ऐसे तथाकथित भगवानोंमें-से बहुत-से दिवंगत हो चुके और बहुत अधिक नवीन प्रकट हुए।

बहुत अद्भुत हैं ये सब भगवान। ये घोषणा करते हैं कि आप उनके शरणापन्न हों तो ये आपको जन्म-मरणसे मुक्त कर देंगे, ज्ञान दे देंगे, भगवद्दर्शन करा देंगे, शान्ति प्राप्त करा देंगे, कुण्डलिनी जागृत कर देंगे, ज्योतिका दर्शन करा देंगे या ऐसा ही कोई 'किम्भूत किमाकार' कोई चमत्कार दिखला देंगे।

स्वयं ये सब भगवान दरिद्र हैं। आपको बहुत वैभवशाली दीखते हों तो भर्तृहरिकी बात स्मरण कर लीजिये—

'स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला।'

इनकी तृष्णा बढ़ी हुई है। अनेक प्रकारकी युक्तियाँ ये धनार्जनके लिए करते रहते हैं।

प्रायः सब रोगी रहते हैं। प्रकट या गुप्त इनको औषधियों तथा चिकित्सकोंपर आश्रित रहना पड़ता है।

अवश्य ये हेकड़ीकी बातें बहुत करते हैं; किन्तु बहुत डरपोक हैं। अपनी रक्षाके लिए सदा सचिन्त, सेवकों, अङ्ग-रक्षकोंसे घिरे और अनेक तो अस्त्र-शस्त्र भी रखते हैं। इनतक पहुँचना समस्या हो तो आश्चर्य नहीं। अनेक बार इन्हें आक्रान्त होकर स्थान छोड़कर भागना पड़ता है।

वासनाओंमें आकण्ठ डूबे, भौतिक भोगोंको दोनों हाथों जुटाने-समेटनेमें तत्पर ऐसे लोग दयनीय हैं। उनका विरोध भी क्या।

इनमें कुछ जादूगर हैं और कुछ तर्कजाल उत्पन्न करनेमें निष्णात; किन्तु जो स्वयं चिन्तित, रुग्ण, अर्थ एवं काम जुटानेमें लगा है, वह दूसरे किसीको निश्चिन्त बना सकेगा ? शान्ति दे देगा ? वह ज्ञानकी बातें चाहे जितनी करे, कोई ज्योति या चमत्कार दिखावे, किसी शारीरिक या मानसिक भ्रमको उत्पन्न कर सकता हो, जो स्वयं राग-द्वेषमें आबद्ध है, दूसरेको मुक्त कर कैसे सकता है ?

पता नहीं कितनी शतियोंसे स्वर्ण बनानेका लोभ देकर लोगोंको ठगनेवाले समाजमें हैं। नोट दुगुना करनेवाले भी घूमते ही हैं। उसी प्रकारके ये भगवान भी हैं। इनमें अनेकके सेवक अपने सेव्य बदलते रहते हैं। मनुष्यको चौंकना चाहिये जब एक भगवान या ज्ञानीका अत्यन्त घनिष्ट सेवक किसी दूसरे भगवानका सेवक बन जाता है। वह तो अपनी सुविधाका सेवक है। घनिष्ट होते ही वह जान जाता है कि केवल प्रशंसा करते रहनेसे वह भरपूर सुविधा उठाता रह सकता है। इसमें बाधा पड़नेपर वह दूसरा भगवान ढूँढ़ता है।

भगवान बन जाना, तत्त्वज्ञानी बन जाना आज सबसे सुगम और बिना घाटेका व्यवसाय है। लेकिन है व्यवसाय ही। जब कोई ऐसा बनने लगता है, जिनमें इतनी योग्यता नहीं है और भरपूर सुविधा उन्हें चाहिए, वे उसके समीप स्वतः जुट जाते हैं।

ऐसा वर्ग समाजमें सदा रहा है, सदा रहेगा। अतः इसकी निन्दा करके समय नष्ट करना है। श्रीकृष्णके समय ही नकली वासुदेव भी हुए। हजरत मुहम्मद साहबके समीप भी कई लोगोंने अपनेको पैगम्बर घोषित किया। भगवान बुद्धके समय भी कई अपनेको पूर्ण बोधप्राप्त बतलाते थे। आज इनकी संख्या बहुत बढ़ गयी है, यह कलियुगका प्रभाव है।

इस व्यापक प्रभावसे सर्वथा अस्पृष्ट रहा जा सकता है—

१. यदि आप गीताकी ऊपर कही बात स्मरण रखें।

२. यदि आप स्मरण रखें कि कोई चमत्कार, कोई ज्योति या आकार-दर्शन, कोई शारीरिक या मानसिक अनुभूति—भले वह कुण्डलिनी जागरण ही समझी जाती हो—मूल्यहीन है यदि वह आपके राग-द्वेषको मिटाती या शिथिल नहीं करती।

३. कोई बौद्धिक समझ कुछ अर्थ नहीं रखती। श्रुतिकी बात स्मरण रखें—'प्रज्ञाने नैनमाप्नुयात्।'

४. प्रज्ञान—बौद्धिक समझ तथा अन्य सब अनुभव,साधन तभी सार्थक हैं जब राग-द्वेषको मिटावें। कम-से-कम शिथिल तो करें।

५. राग-द्वेष चाहे ध्यानसे मिटें, योगसे मिटें, भक्तिसे मिटें या किसी चमत्कारसे मिटें, जिससे मिटते हों, वही आपके लिए उचित साधन है।

पर उपदेस कुसल बहुतेरे।

बात यह है कि दूसरेको उपदेश करते समय तो मनुष्य उपदेशके आचरणकी कठिनाई समझता ही नहीं।

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां चापि भुक्तये न तु मुक्तये॥

बहुत सुन्दर व्याख्यान, आलंकारिक शब्दावली, गीता-रामायण-भागवत या उपनिषदोंकी बहुत उत्तम व्याख्या, यह सब विद्वानोंकी विद्वत्ता उन्हें भोग दे सकती है। उन्हें या उनके श्रद्धालुओंको मोक्ष नहीं दे सकती।

चमत्कार तो बिलकुल मोक्ष नहीं दे सकते। वे ऐसे बच्चोंको भ्रमित करते हैं जो अपनेको बुद्धिमान, विद्वान भी समझते हैं। इसलिए स्मरण रखें—

सदाचार अवश्य पालनीय हैं। सदाचार, अपरिग्रह, त्याग, तप बहुत बड़ी वस्तु हैं।

उनसे भी बड़ी वस्तु है अनपेक्षा। शरीर, संसार, सुयश सबसे जो अनपेक्ष है, वह भले औघड़ ही हो, वह पुरुष है। उसमें आत्म-पौरुष है।

उससे भी बड़ी वस्तु है भक्ति—भगवत्प्रेम।

सबसे बड़ी वस्तु है भगवानपर ही निर्भरता और उसीकी—एकमात्र उसीकी आत्मीयता। उसीके लिए, उसीके प्रति इच्छा (राग) या द्वेष भी। यही राग-द्वेष जन्म-मरणके महारोगकी महौषधि है।



पुरुषोत्तम—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

गीता १५.१८

क्षर और अक्षरकी परिभाषा यहीं करदी गयी है—

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । गीता १५.१६

प्राणि-पदार्थ सब भूत हैं; क्योंकि 'भवन्ति इति भूतानि' जो भी उत्पन्न होता है, वह भूत है । सृष्टिमें जितना नाम-रूप है, वह आपको जड़के रूपमें ही दीखता है । चेतन दीखा नहीं करता । अतः यह दृश्यमान सम्पूर्ण चराचर क्षर है । यह बदलता रहता है और नष्ट (रूपान्तरित) हो जाता है; क्योंकि सृष्टिमें नष्ट तो कुछ होता नहीं । किसी पदार्थकी सत्ताका विनाश नहीं होता । वैज्ञानिक तो कहते हैं कि पदार्थके वजनका भी किञ्चित् नाश नहीं होता । केवल रूपान्तरण होता है ।

बराबर रूपान्तरित होनेवाले ही सब भूत हैं । अतः वे क्षर हैं । शास्त्रकी भाषामें इसीको मिथ्या कहा जाता है । मिथ्याका अर्थ शशशृङ्गके समान सत्ताहीन नहीं है । आप झूठा किसे कहते हैं ? जो अभी एक बात कहे और फिर दूसरी कहे पहिलीके विपरीत । जो एक तथ्यपर न बना रहे,बदलता रहे । सब प्राणि-पदार्थ एकरूप नहीं रहते । ये अपना रूप बदलते रहते हैं, अतः इन्हें शास्त्र मिथ्या कहता है । आपको मिथ्या शब्द न पसन्द हो तो इन्हें बहुरूपिया कहिये ।

इन बहुरूपियोंमें एक सच्चा छिपा है । कूटका अर्थ है झूठ । कूटस्थ अर्थात् मिथ्याके भीतर छिपा सत्य अक्षर है । वह आप स्वयं हैं । आप बदलते नहीं हैं । बचपनसे अबतक शरीर बढ़ा, समय-समयपर मोटा या दुबला हुआ, स्वस्थ या रोगी रहा, शिशु-बालक-तरुण-वृद्धादि हुआ; किन्तु आपके 'मैं' में कोई परिवर्तन हुआ ?

शरीर बदलता है, मनके सङ्कल्प बदलते हैं, बुद्धि और स्मृति तथा

शक्ति बढ़ती-घटती है; क्योंकि ये सब भूत हैं, क्षर हैं; किन्तु 'मैं' नहीं बदलता। वही अक्षर है। उसे आप भले जीव कहो या और कोई नाम दो।

श्रीकृष्ण कहते हैं—'मैं क्षरसे अतीत हूँ।'

ठीक बात। आप भी क्षरसे अतीत हो। आप भी क्षर नहीं हो। भले आप भ्रमवश अपनेको शरीर, मन, बुद्धि ही मान लो; किन्तु आप इनमें कोई नहीं हो। ये तो बदलते रहते हैं और आप अपरिवर्तनशील हो।

बात यहींतक रहती तो कुछ कहना ही नहीं था। फिर तो सांख्य-शास्त्रके असंख्य पुरुष और एक प्रकृतिकी बात बनी-बनायी थी; किन्तु श्रीकृष्ण तो आगे कह देते हैं—'अक्षरादपि चोत्तमः।'

यह योगदर्शनके 'पुरुषविशेषः ईश्वरः' की बात तो है; किन्तु इसीको समझना है; क्योंकि श्रीकृष्ण ही कह देते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥

जो इस प्रकार मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वह असम्मूढ है, वह सर्वविद् है, वह सर्वभावसे मेरा भजन करता है।

हम-आप कोई सम्मूढ तो रहना नहीं चाहते। सर्वभावसे भजन बनने लगे, इससे उत्तम बात क्या होगी। अतः इस पुरुषोत्तमको जानना चाहिये।

अद्वैत-वेदान्तके कुछ अधकचरे अभ्यासियोंको 'सावनके अन्धे' के समान सर्वत्र हरा ही हरा दीखता है। जहाँ कहीं 'मां' मिला, उन्हें 'मां आत्मानं' ही सूझता है। इस सनकसे उबरे बिना पुरुषोत्तमका पता लग नहीं सकता; क्योंकि जिसे तुम 'मां आत्मानं' कह रहे हो, वही तो कूटस्थ अक्षर है और श्रीकृष्ण यहाँ अपनेको उस अक्षरसे उत्तम कह रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि पारमार्थिक सत्ता अखण्ड, अद्वितीय, नित्य निर्विकार, निरञ्जन है। उसमें द्वैतकी गन्ध भी सम्भव नहीं है। लेकिन जन्म-मरण, बन्धन-मोक्ष भी उस पारमार्थिक सत्तामें नहीं है।

यहाँ गीतामें इस स्थलपर उस पारमार्थिक सत्ता या ब्रह्मकी चर्चा भी नहीं है। क्षर-अक्षरका भेद उस सत्तामें सम्भव नहीं है। उसमें सम्मूढ-असम्मूढ, सर्व और सर्वविद् शब्दोंका व्यवहार भी सम्भव नहीं है।

समस्त शास्त्रोंकी प्रवृत्ति व्यावहारिक सत्तामें है और व्यवहारके लिए है। पारमार्थिक सत्ता अव्यवहार्य है, अतः व्यवहारके क्षेत्रमें अनुपयोगी है। उसे आप किसी उपयोगमें नहीं ले सकते।

व्यावहारिक सत्ताका क्षेत्र केवल यह जीवन ही नहीं है। जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख, बन्धन-मोक्ष सब व्यावहारिक सत्तामें ही हैं।

क्षर-अक्षर और पुरुषोत्तमका विवेक भी व्यावहारिक सत्तामें ही है। व्यावहारिक सत्तामें ही प्राणी मूढ़ हो रहा है और यहीं पुरुषोत्तमको जानकर असम्मूढ़ तथा सर्वविद् होगा। जिस सत्तामें सर्व है नहीं, वहाँ सर्वविद् कैसा ?

जहाँ क्षर-अक्षरका भेद है, उसी व्यावहारिक सत्तामें पुरुषोत्तम क्षरसे अतीत और अक्षरसे श्रेष्ठ है।

गीता यहाँ पुरुषोत्तम अर्थात् परमेश्वर, सर्वसञ्चालक, सर्वनियन्ता, सर्वेश्वरका प्रतिपादन कर रही है।

जिस व्यवहार सत्तामें आपका शरीर है, मन है, बुद्धि है, उस व्यवहार सत्ताका एक परमनियन्ता है। वही इसका सञ्चालक है, पोषक है।

आप ब्रह्म भले बने रहें; किन्तु आपका शरीर पुलिस, प्रशासकादिके परतन्त्र होता है या नहीं ? शरीरपर तो चोर-डाकू भी अपना शासन चला लेते हैं। शरीर रोगी होता है और आपके नियन्त्रणमें नहीं रहता। मल-मूत्रादिके वेग, खाँसी, छींक, श्वास-प्रश्वासादि क्या सर्वथा आपके अनुशासनमें हैं ?

व्यष्टि सदा समष्टिका आश्रित एवं समष्टिके परतन्त्र रहता है। हमारा आपका काम अन्न, पानी, वायु आदिके बिना नहीं चलता। अन्न, जल, वायुमें मिले दूषणोंका हमपर प्रभाव पड़ता ही है। उसे हम रोक नहीं पाते।

इसी प्रकार हमारा मन, बुद्धि, चित्त भी समष्टिके परतन्त्र हैं। समष्टिपर आश्रित हैं। अतः ब्रह्मज्ञानके उदयके लिए, ब्रह्मानुभूतिके लिए भी हम समष्टिके सञ्चालककी कृपापर आश्रित हैं; क्योंकि यह अनुभूति भी चित्तमें होगी। चित्तका नियन्त्रण-संचालन भी समष्टि संचालकके ही हाथमें है।

इसी तथ्यको रामचरित-मानसकार भगवान शंकरके मुखसे कहलाते हैं—

..ज्ञानी मूढ़ न कोइ।
जेहि छन रघुपति जस करहिं, सो तस तेहि छन होइ।।

गीतामें श्रीकृष्णने स्पष्ट घोषित किया है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

कुछ लोग तो यहाँ भी 'अहं आत्मानं' अर्थ करने लगते हैं। यह भूल ही जाते हैं कि उस अद्वय आत्मामें न सर्व है, न प्रवर्तन और न प्रवर्तित।

यह जो सर्वका प्रवर्तक है, वही पुरुषोत्तम है और यह सगुण है, अतः कृपाशील है। इसे जानकर पुरुष सर्वभावसे—अनन्याश्रित होकर उसीका भजन करता है।

श्रुतिने अवश्य कह दिया—'**द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ।**'

दो पक्षी हैं संसार वृक्षपर बैठे और वे नित्य संयुक्त हैं। नित्य सखा हैं।

लेकिन श्रीकृष्ण कहते हैं—'अक्षरादपि चोत्तमः।' वे सखा तो अक्षर—जीवके; किन्तु उससे उत्तम—वरिष्ठ हैं।

अब यह उन पुरुषोत्तमकी विशिष्टता है कि वे प्रेम-परवश हो जाते हैं। वे सर्वलोक-महेश्वर रहते भी पुत्र या सेवकतक बन जाते हैं प्रेमी भक्तके।

भक्ति देवी उन पुरुषोत्तमसे अभिन्ना उनकी पराशक्ति हैं। इन भक्ति देवीकी ही महिमा है कि ये अचिन्त्य अवाङ्मनसगोचर, अनन्त शक्ति, आदि-अन्तहीन पुरुषोत्तमका साधारणीकरण करके उसे पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी आदि किसी अभीष्ट रूपमें अत्यन्त सुगम-सुलभ बना देती हैं।



श्रद्धामयोऽयं पुरुषः—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

—गीता १७.२-३

देहधारी मात्रमें श्रद्धा होती है, यह 'देहिनां' के द्वारा स्पष्ट है । यह श्रद्धा स्वाभाविक होती है, बनानेसे कम ही बनती है । लेकिन आवश्यक नहीं कि सबकी श्रद्धा शुद्ध सात्विक ही हो । श्रद्धा त्रिविध होती है; क्योंकि सृष्टि ही त्रिगुणात्मिका है । सात्विक, राजस, तामस भेदसे श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है ।

'सत्त्वानुरूपा श्रद्धा' सत्त्व अर्थात् अन्तःकरणका ठीक स्वरूप । कोई मनुष्य है, इसीलिए उसमें सात्त्विक श्रद्धाका होना अनिवार्य नहीं है । मनुष्योंमें राजसिक, तामसिक भी श्रद्धा होती है और पशुओंमें भी सात्त्विक श्रद्धा देखी गयी है ।

अनेक बार सर्प जैसे क्रूर प्राणीमें भी समझ तथा सात्त्विक श्रद्धा दीखी है । कथा या पूजाके समय आकर बैठ जानेवाले पशु, सर्पादिकी बात सुननेमें आयी है । रामवनमें एक कोल मजदूरिन अपने बच्चेको भूमिमें वस्त्रपर लिटाकर काममें लग गयी । कुछ देरमें किसीकी दृष्टि पड़ी तो उसने हल्ला मचाया ।

बालक अबोध था । बैठ लेता था; किन्तु शायद खड़ा नहीं हो पाता था । उसके समीप पूरा फण उठाये कोबरा सर्प बैठा था । बालक प्रसन्न होकर किलकारी ले रहा था और सर्पके फणपर हाथ मारना चाहता था । सर्प फण बचा रहा था । बार-बार बालक अपने छोटे हाथोंसे सर्पके शरीरको पीटता था ।

हल्ला मचा तो लोग एकत्र हो गये; किन्तु सब थोड़ी दूरीपर ठिठक गये। समीप जानेपर सर्प बालकको काट ले, यह डर था। बालककी माता चीख रही थी। लोगोंकी भीड़ और शोर हुआ तो सर्प एक ओर भाग निकला।

मनुष्योंमें आपको आज बहुत अधिक लोग मिलेंगे जिनकी श्रद्धा धनपर, अपने बल या बुद्धिपर ही है। पैसेसे सब कुछ कराया जा सकता है, ऐसी श्रद्धा तो समाजमें अधिकांश लोगोंकी है।

यहाँ श्रीकृष्ण कह रहे हैं—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' बात आपके शरीरकी, मनकी, बुद्धिकी भी नहीं है। बात है पुरुषकी। पुरुषका अर्थ करते आप कहीं स्त्री-पुरुषका भेद न करने लगें। स्त्री या पुरुष तो शरीर होता है और बात शरीरकी नहीं है। बात है इस शरीर रूपी पुरीमें सोनेवाले—रहनेवाले पुरुषकी—चेतनकी। वह चेतन श्रद्धामय है।

चेतन पुरुष श्रद्धामय है तो पुरुषोत्तम भी श्रद्धामय ही है, यह स्मरण रखना है। उनके प्रति जिसकी जैसी श्रद्धा है, जैसी भावना है, उसके लिए वे वैसे ही हैं।

आप कैसे हैं ?

इसका उत्तर काले-गोरे, मोटे-दुबले, ठिगने-लम्बेमें मत दीजिये। यह सब तो शरीरकी विशेषताएँ हैं। शरीर ही स्वस्थ या रोगी, सुन्दर या कुरूप होता है। शरीरकी बात यहाँ पूछी नहीं जा रही।

आप कैसे हैं ?

धनी या दरिद्र, सम्मानित या तिरस्कृत, अकेले या सपरिवार, पद-प्राप्त या पदच्युत, सफल या असफलकी बात मत कीजिये। आपकी सामाजिक स्थिति नहीं पूछी जा रही है।

आप कैसे हैं ?

क्रोधी या शान्त, संयमी या असंयमी, उदार या कृपण, तितीक्षु त्यागी या भोगीकी बात मत सोचिये। आपके मनकी स्थिति आपसे कौन पूछता है।

आप बुद्धिमान हैं या मूर्ख, प्रतिभाशाली हैं या जड़मति आदि भी पूछा नहीं जा रहा है। ये बुद्धिकी विशेषतायें हैं और बुद्धि भौतिक तत्त्व ही है। एक साधारण चोट सिरमें लगनेपर सब पढ़ा-लिखा भूल जाता है।

अतः आपकी भौतिक सम्पत्ति जैसे पूछी नहीं जा रही, जैसे आपके स्थूल शरीरकी विशेषताको महत्त्व नहीं दिया जा रहा, वैसे ही आपके मन तथा बुद्धिकी भी विशेषताकी बात यहाँ नहीं है।

बात आपकी है और आप वैसे नहीं हो जैसा आपका शरीर है, आपकी सामाजिक स्थिति है या आपकी बुद्धि है।

आप वैसे भी नहीं हो जैसा आपका मन है, जैसी आपकी क्रिया है या जैसा आपका स्वभाव आपने बना लिया है। कोई धातुका टुकड़ा काई लगा, कीचड़ लिपटा है तो वह जैसा दीखता है, वैसा नहीं है। उसे धोनेपर तपानेपर वह जैसा निकले वह है। वह लोहा, तांबा या सोना भी हो सकता है।

कोई जब अपने आचरण जैसा भी नहीं है, तब है? है न अद्‌भुत बात कि गीता यह भी स्वीकार नहीं करती कि कोई वैसा है, जैसा उसका आचरण है।

लेकिन गीता मुखौटे नहीं देखती। कोई डाकू देखकर बता सकता था कि यह आदिकवि बाल्मीकि हैं?

गीताकी परीक्षा-कसौटी है—'योयच्छ्रद्धः स एव सः।' जिसकी श्रद्धा जैसी है, वह वैसा है। वैसा भी नहीं, वही है।

यह बात भी सत्य है कि प्रायः मनुष्यको पता नहीं होता कि उसकी श्रद्धा कहाँ है और कैसी है; किन्तु श्रद्धा होती है उसमें। यह पुरुष है ही श्रद्धामय। अतः अपनी श्रद्धाका सूक्ष्म निरीक्षण कीजिए तो आप जान सकेंगे कि आप क्या और कैसे हैं।

द्विपाद पशु भी होते हैं। जिनकी श्रद्धा जड़-पदार्थोंमें है, जो अर्थ पुरुषार्थी हैं, जो केवल रुपयेके लिए रुपया या भूमि-भवनादि जुटानेमें लगे हैं, वे चलते-फिरते दीखनेपर भी जड़। उनकी तामसी श्रद्धा उन्हें शीघ्र जड़ पदार्थ बना देनेवाली है।

जो भोग पुरुषार्थी (काम पुरुषार्थी) हैं, ऐन्द्रियक भोगोंमें ही जिनकी श्रद्धा है, जो अपने और अपनों (परिवार, मित्र, समर्थकादि)की ही सुख-सुविधा जुटाने-सोचनेमें लगे हैं और इसीकी उपलब्धिमें जिनकी आस्था है, वे बुद्धिमान भी हों तो भी पशु-पक्षी ही हैं। उनकी गति सुनिश्चित है। उन्हें तिर्यक्योनिमें ही कहीं जाना है।

मरनेके बाद भी जीवन रहता है और उसे भी कभी इस जन्मके कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, यह जिनकी केवल बौद्धिक मान्यता ही नहीं है, सचमुच चिन्ता है, वे मनुष्य हैं। उनकी श्रद्धा धर्ममें है।

धर्ममें श्रद्धा होनेपर भी मनुष्य भटक नहीं जायगा, यह कोई सुनिश्चित बात नहीं है। वह अदृश्य शक्तियोंको मानकर भी भूत-प्रेत, यक्ष-राक्षस, देवी-देवतामें-से पता नहीं किनपर आस्था करेगा और उसका आश्रय लेगा।

भगवानपर श्रद्धा करके उन सर्वेश्वरका ही आश्रय लेनेवाले तो बहुत थोड़े होते हैं; किन्तु जो होते हैं, उन भगवदीय जनोंसे ही त्रिभुवन पवित्र एवं सनाथ होता है।

श्रद्धा सदा तर्कहीन होती है। मूर्खता भरा शब्द है अन्ध श्रद्धा। बिना अनुभव के आस्थाका नाम ही श्रद्धा है। आप अपने अनुभवसे जिसे जानते हैं, वह श्रद्धाका विषय नहीं और जो तर्क सिद्ध है, उसमें श्रद्धा कैसी ? अवश्य ही श्रद्धा शास्त्र या सत्पुरुषके वचनोंपर होनी चाहिए।

श्रद्धाका परिमार्जन-परिशोधन सम्भव न होता तो गीतामें यह प्रसंग आता ही नहीं। श्रद्धा होती तो स्वाभाविक है; किन्तु स्वभाव दृढ़संकल्पपूर्वक अभ्याससे परिवर्तित हो सकता है, अतः श्रद्धा भी परिमार्जित हो सकती है।

आप वैसे हैं, जैसी आपकी श्रद्धा है। आपको वही हो जाना है, जैसी आपकी श्रद्धा है। अतः श्रद्धाका कितना बड़ा महत्त्व है, यह आप जितना शीघ्र समझ लें, आपके लिए उतना ही हितकर होगा। इसे समझकर आप अपनी श्रद्धाका परिमार्जन कर सकते हैं। सत्संग एवं सद्ग्रन्थोंका बराबर अध्ययन ही श्रद्धाके परिमार्जनके सुनिश्चित साधन हैं।



विशते तदनन्तरम्—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

—गीता १८।५१ से ५५

यह भी ध्यानमें रखना है कि श्रीकृष्ण इस वर्णनसे पहिले कह चुके हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥

—१५।५०

इससे भी पहिले—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

—१ ।५४

बात ही प्रारम्भ हुई 'नैष्कर्म्य सिद्धि परमां' की। यह सिद्धि स्वयं इतनी दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण है कि उसका अधिकारी वह है जो सर्वत्र असक्तबुद्धि है। उसकी बुद्धि कहीं संसक्त नहीं होती। अपना-पराया कभी नहीं सोचती।

बौद्धिक तटस्थता, निरपेक्षता भी पर्याप्त नहीं है। जितात्मा—उसका चित्त अपने वशमें है। लेकिन चित्त वशमें रखकर भी उसे कुछ पाना नहीं

है। वह सर्वथा निरपेक्ष है। यहाँ तक विवेक, वैराग्य तथा शम, दम उपरति; तितीक्षा आदि षट्सम्पत्तिकी पूर्णता उसमें आ गयी। इसके पश्चात् भी 'सन्यासेन' अर्थात् बाह्य त्याग भी पूरा होना चाहिए। अपरिग्रह दृढ़ होना चाहिए। इतना सब हो तो नैष्कर्म्यकी परमसिद्धि मिले।

नैष्कर्म्यकी यह परमासिद्धि ही पूर्णता नहीं है। यह तो पूर्णत्वको प्राप्त करनेके लिए एक प्रारम्भिक अवस्था है। इस सिद्धिको—इस सफलताको पानेके पश्चात् ब्रह्मत्व प्राप्ति होती है। वह भी कैसी ? 'यथाब्रह्म तथाप्नोति' ब्रह्म जैसा है, उसे वैसा ही प्राप्त करता है। ब्रह्ममें कोई परिशोधन, परिमार्जन, परिमाण, परिवर्तन करके उसे नहीं पाया जाता।

लेकिन पाया कैसे जाता है, इस विषयमें 'निबोधमें' कहकर सावधान किया कि पूरा ध्यान लगाकर इसे सुनो।

यह ब्रह्मप्राप्ति ज्ञानकी भी परानिष्ठा है। अवश्य ही श्रीकृष्णने यह कह दिया 'समासेनैव' अर्थात् संक्षिप्त ढंगसे ही इस ज्ञानकी परानिष्ठाको पानेका उपाय बतला रहे हैं।

सबसे पहिली बात कि बुद्धि विशुद्ध होनी चाहिए। बुद्धि शुद्ध अर्थात् सात्विक ही नहीं, विशुद्ध—अत्यन्त सात्विक हो। उस बुद्धिसे धृतिको तथा चित्तको नियन्त्रित करना है।

चित्तको नियन्त्रित करनेकी बात साधारण समझमें आनेकी है; किन्तु धृतिका नियन्त्रण ? इसका तात्पर्य है कि दीर्घकालीन साधन एवं प्रतीक्षाका धैर्य होना चाहिए। अकुलाहट, जल्दबाजी, अधैर्यके लिए लिए स्थान नहीं है।

शब्दादि विषयोंका सेवन तो त्यागा ही गया, उनके प्रति जो राग-द्वेष है उसका भी उन्मूलन होना चाहिए।

विषयोंका राग ही त्याज्य नहीं है, उनका द्वेष भी त्याज्य है। जो, जैसा, जब प्राप्त हो गया—उसीकी स्वीकृति, उसीमें संतोष। यहाँ पहुँचकर मल-दोष सवथा समाप्त हो गया।

उदस्य-हटा देनेको नहीं कह रहे, कह रहे हैं व्युदस्य—सर्वथा त्याग देनेको। राग-द्वेष दोनों सर्वथा त्याग दिये तो चित्त निर्मल हो यया।

विविक्त सेवी—भले वनमें न रहता हो; किन्तु पृथक् रहता हो भीड़-भाड़से और लघु—थोड़ा तथा हल्का भोजन करता हो, जिससे शरीर स्वस्थ रहे, आलस्य-प्रमाद न बढ़ें।

यतवाक्काय मानस— वाणी, शरीर तथा मन भी नियन्त्रित हों। यहाँ आकर विक्षेप दोष भी दूर हो गया।

ध्यानयोग परो—ध्यान करनेमें लगा रहे और वह भी 'नित्यं' अर्थात् दूसरा कोई व्यवहार न करता हो। बराबर ध्यानमें ही लगा रहे।

वैराग्यं समुपाश्रित:—यहाँ समुपाश्रित: कहकर पर वैराग्यको प्राप्त करले—गुणोंसे ही वितृष्णा हो जाय, यह सूचित किया। क्योंकि—

दृष्टश्रुत विषयवैतृष्ण्यकी बात तो पहिले ही 'शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा'में कह चुके हैं।

अब यह संयम और वैराग्य जिन आन्तरिक और बाह्य कारणोंसे शिथिल हो सकता है, उनके भी त्याग की बात कहते हैं।

'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।

अहंकारका अर्थ यहाँ है व्यक्तिव को विशिष्ट बनानेका आग्रह।

बल—अपने साधनका भरोसा कि 'मैं कर लूंगा'।

दर्प—साधनाभिमान—'मैंने इतना कर लिया।'

काम और क्रोध अर्थात् कामना मात्रका त्याग और इच्छानुरूप न होनेपर जो उद्वेग होता है, उसका भी न होना।

इन सबको 'विमुच्य' विशेष रूपसे—सर्वथा त्याग देना है।

इतना हो गया तो आवरण दोष भी मिट गया। अब उसकी स्थिति क्या है, यह बतलाते हैं।

'निर्मम: शान्त:'—न ममता रही कहीं और न विक्षेप रहा। अत:—'ब्रह्मभूयाय कल्पते।' वह ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हो गया।

यहीं माण्डूक्य कारिका स्मरण करने योग्य है—

यदा न लीयते चित्तं न तु विक्षिप्यते पुनः।
निरिङ्गन निराभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥

इस अवस्थाको जो प्राप्त हो गया, उसकी स्थिति बतला रहे हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा—ब्रह्मानुभव करके चित्त सर्वथा निर्मल हो चुका। अविद्या नष्ट हो गयी।

न शोचति न कांक्षति—अब भूतकालकी हानि, वियोगादिको लेकर शोक नहीं होता और कुछ पाना या बनना नहीं रहा, अतः भविष्यके लिए कोई आकांक्षा नहीं होती।

'समः सर्वेषुभूतेषु'—व्यवहार सब प्राणि-पदार्थोंके प्रति समान हो गया; क्योंकि अब तो 'देख ब्रह्म समान सब माहीं।'

'मद्भक्ति लभते पराम्'—यहींसे बात जटिल हो गयी। यहाँ ज्ञानोत्तरा भक्ति स्वयं प्राप्त हो जाती हैं, यह कह रहे हैं।

श्रीमद्भागतमें भी यही बात आयी है—

आत्मारामाश्च मुनयः निर्ग्रन्थाऽप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्ति इत्थं भूतगुणो हरिः॥

भक्ति दो प्रकारकी सभी भक्ताचार्योंने मानी है—साधनरूपा—साध्या अथवा गौणी—मुख्या। इन्हींको अपरा-परा कहा जाता है।

परा भक्ति भावात्मिका है। उसके भेद हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य।

'लभते' ही कह रहा कि परा भक्तिके भाव अपनी ओरसे कल्पित नहीं किये जाते। यह तो प्राप्त होती है। ज्ञानोत्तर स्वयं सगुण—साकार भगवानके प्रति दास्य, सख्यादि किसी भावका उदय हो जाता है।

'भक्तया मामभिजानाति' इसको लेकर बहुत अधिक खींचतान की गयी है। अधिक लोगोंने ब्रह्मभूत होनेको परोक्षज्ञान माना है और यहाँ अपरोक्षज्ञान मानते हैं।

पहिली बात तो यह कि 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' तकमें ऐसी क्या कमी रही कि उस अवस्थाको परोक्षज्ञान माना जाय ?

'प्रसन्नात्मा, न शोचति—न कांक्षति' और 'समः सर्वभूतेषु'में ज्ञानीका पूर्ण लक्षेण तो हो चुका।

दूसरी बात यहाँ 'भक्तयामामभिजानाति'में भक्तिको 'अभिजानाति' साक्षात् साधन बतला रहे हैं। ज्ञान मार्गके कोई आचार्य अपरोक्षज्ञानका साक्षात् साधन भक्ति मानते भी हैं ?

तीसरी बात—'अभिजानाति'का स्वरूप बतलाया 'यावान्यश्चास्मि-तत्त्वतः।' क्या ब्रह्ममें यावान् और यश्चास्मि अर्थात् जितना और जो यह विशेषण लग सकते हैं ?

एक चौथी बात भी आगे है—

'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वाविशते तदनन्तरम् ।'

मान भी लें कि 'तत्त्वतो ज्ञात्वा' अपरोक्ष ज्ञान है तो ज्ञान और ब्रह्म दो हैं या ज्ञानस्वरूप—ज्ञान ही है। अपरोक्षज्ञान और ब्रह्मत्व प्राप्ति दो तो नहीं है। इसलिए अविद्या नाशके ही क्षणमें ब्रह्मत्त्व प्राप्ति होती है। वस्तुतः कुछ प्राप्त नहीं होता, अप्राप्तिका भ्रम मिट जाता है। ऐसी अवस्थामें वहाँ ज्ञात्वा तदनन्तरं विशते' कहना बन सकता है क्या ?

विशते अर्थात प्रवेश करता है। प्रवेश वहाँ होता है जहाँ हम नहीं हैं। जहाँ हम हैं ही, वहाँ हमने प्रवेश क्या किया।

यहाँ तो श्रीकृष्ण स्पष्ट 'तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं विशते' कह रहे हैं। तत्त्वतः जाननेके बाद प्रवेश होता है।

अतः 'भक्त्यामामभिजानाति'से लेकर 'विशते तदनन्तरम्' तककी बातका निर्गुण ब्रह्मसे सम्बन्ध ही नहीं है।

भक्ति परा प्राप्त हुई निर्गुण अपरोक्षज्ञानके पश्चात्। भक्ति होगी ही सगुणकी और भक्तिके द्वारा जो 'यावान् यश्चास्मि'के रूपमें तत्त्वतः जाना गया, वह सगुण ही होना सम्भव है।

उस सगुणको तत्त्वतः जानकर उसमें प्रवेश अर्थात् उसकी सन्निधि प्राप्त होती है। क्योंकि—

राम अतर्क्य बुद्धिमन बानी।

अतः उस सगुणके तत्त्वतः ज्ञान और उसमें प्रवेशका अधिक विवरण-विवेचन सम्भव नहीं है। उसके सम्बन्धमें जितना संकेत देना सम्भव है, उतना संकेत गीताने यहाँ दिया है।

इसीलिए इस स्थितिको ज्ञान नहीं, ज्ञानकी भी परानिष्ठा प्रारम्भमें ही कहा गया है।



युक्ताहार विहारस्य–

आप एक बात मत भूलिये कि व्यापारी, राजनेता, सर्कस कम्पनी या सिनेमा-निर्माताके लिए यह श्लोक नहीं है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ –गीता ६।१७

उपयुक्त आहार, उपयुक्त विहार, कर्मोंमें उपयुक्त चेष्टा करनेवाले और उपयुक्त सोने तथा जागनेवालेके लिए योग दुःखनाशक होता है।

मैं जिस मथुरामें बैठकर इस समय लिख रहा हूँ, उसमें चतुर्वेदी कुलोंमें पाँच किलो रबड़ी एक साथ पीनेवाले अनेक मिलेंगे। साथ ही ऐसे लोग भी इस नगरमें मिलेंगे जो दो छोटे फुलके भी नहीं पचा पाते। अतः व्यक्तिके लिए आहार कितना आवश्यक है, वही समझ सकता है।

आहार, निद्रा, मैथुन, भय।
जेतो बढ़ावे ते तो हय।

यह बँगला लोकोक्ति ठीक; किन्तु सर्वथा निराहार या बिल्कुल निद्रा लिए बिना भी कोई नहीं रह सकता। रहे तो रोगी हो जायगा।

इस युगमें भी कुम्भकर्णके अनुकरणकर्ता सुने ही जाते हैं। मैंने एक बार एक साधु देखा था, वह वहीं रहता था जहाँ मैं रहता था। अतः उसे महीनों मैंने देखा। वह रात-दिनमें प्रायः बीस घण्टे रोज सोया करता था।

यह युग तो विश्व-प्रतिमान (रिकार्ड)की स्पर्धाका युग है। लोग दौड़ने, चलते रहने, खड़े रहने अथवा कोई विशेष काम करनेका प्रतिमान स्थापित करनेका उत्साह रखते हैं। अतः गीताका ऊपर दिया श्लोक ऐसे लोगोंके लिए नहीं है।

साधकका जीवन प्रतिमान बनानेका नहीं होता। प्रतिमान वह बनाना चाहता है जो बहुत अधिक लोगोंका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता हो।

सरकसमें जोकर तो रहेंगे ही। व्यापारमें विज्ञापनकी महत्ताको कैसे अस्वीकार किया जायगा। विज्ञापनकी तो सफलता ही अधिकसे अधिक लोगोंका ध्यान आकर्षित करनेमें है। अतः जिनको व्यापार करना है, सांसारिक सफलता जिन्हें अभीष्ट है, वे अपनी ओर या अपने किसी पदार्थ अथवा क्रियाकी ओर लोगोंका ध्यान आकर्षित करना चाहें, यह ठीक हीं है।

लोगोंका ध्यान सामान्य स्थितिकी ओर आकर्षित नहीं हुआ करता। लोगोंका ध्यान आकर्षित करनेके लिए कोई विशेष स्थिति होनी चाहिए। जितनी विशेष होगी, लोग उतने आकर्षित होंगे। आपके कपड़े मैले हैं या उजले, कुछ फटे हैं या ठीक, दाढ़ी कई दिनसे बढ़ी है या चिकनी बनी है, इसपर केवल आपके घनिष्ठ सम्पर्कके लोग ध्यान देते हैं; किन्तु कोई बहुत बहुमूल्य चमकदार वस्त्रमें निकले अथवा कोई नंगा या फटेहाल पागल जाता हो तो उसकी ओर अकस्मात दृष्टि चली जाती है।

साधुवेशधारी लोगोंके अटपटे वस्त्र, काँठोंपर सोना, भूमिमें गले तक गड़े रहना अथवा बहुत मूल्यवान वस्त्र पहिनना, लोगोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए ही होता है। यह सब विज्ञापन है और विज्ञापन व्यापारके लिए—धन पानेके लिए होता है।

वेश साधुका हो या कोई और, स्थान दूकान हो या मन्दिर अथवा आश्रम, विज्ञापनका तात्पर्य ही धन कमाना होता है। बहुत ऊंचा मन्दिर या मूर्ति, बहुत विचित्र सजावट आदि विज्ञापन ही है।

यह तो इस युगकी विशेषता है कि साधु वेशधारी और लड़कियाँ, स्त्रियाँ अपना विज्ञापन करनेमें प्रवृत्त हैं। नग्न, अर्धनग्न, अटपटे ऐसे वेश, केश-विन्यास और चलने, बोलने आदिके ढंग अपनाये जाते हैं जिसमें अधिकसे अधिक लोगोंकी दृष्टि उनकी ओर आकर्षित हो।

विज्ञापन व्यापारका प्राण है। अतः जो किसी प्रकारका विज्ञापन करता है, वह व्यापार तो करना ही चाहता है। विज्ञापन करनेवालेको यह कहनेका कोई अधिकार न है, न होना चाहिये कि लोग उसकी ओर आकर्षित होते हैं और उसे तंग करते हैं। क्योंकि जब लोग आकर्षित होंगे तब अपनी-अपनी रुचि एवं प्रवृत्तिके अनुसार तो चेष्टा करेंगे ही। यह कुशलता विज्ञापकमें होनी चाहिये कि आकर्षित लोगोंमें-से वह उचित ग्राहक छाँटता

रहे और शेष की उपेक्षा करता रहे; किन्तु भीड़ और अटपटी चेष्टाएँ तो उसे सहन करनेको प्रस्तुत रहना ही चाहिये।

साधक व्यापारी नहीं हुआ करता। मैं साधुवेशमें जो आज हानिके भयसे सर्वथा रहित व्यापारमें लगे हैं, उनकी बात नहीं कहता। मैं कहता हूँ उस सच्चे साधककी बात जो अन्तर्मुख होना चाहता है। जिसे संसारके भोग और प्रशंसाकी भूख नहीं है। जा सचमुच आत्मज्ञान अथवा भगवत्प्राप्तिके लिए उत्सुक है।

'अरतिर्जनसंसदि'—भीड़-भाड़में रुचि न होना, यह उसका स्वभाव होना चाहिये और भीड़-भाड़ नहीं जुटानी है, लोगोंको अपनी ओर आकर्षित नहीं करना है तो आहार, व्यवहार, निद्रा, आचार आदिमें उसे सामान्य रहना चाहिऐ। वस्त्र, व्यवहार आदिमें विशेषता उत्पन्न करना तो लोगोंको आकर्षित करेगा ही।

सर्वथा नंगे रहना, टाट पहिनना भी लोगको वैसे ही आकर्षित करता जैसे अत्यन्त बहुमूल्य वस्त्र पहिनना। अमुक काष्ठमौन रहते हैं, अमुक खड़े ही रहते हैं या अमुक शीतकालमें भी गंगाजलमें खड़े रहते हैं। अमुक मचानपर या वृक्षपर रहते हैं। अमुक नमक-चीनी कुछ नहीं खाते, अमुक किसीको पैर ही नहीं छूने देते आदि विशेषताएँ जब कोई उत्पन्न करता है अपनेमें तो यह कैसे सम्भव है कि लोग उसकी ओर आकर्षित न हों। वह तो स्वयं अपना विज्ञापन कर रहा है।

तपस्या धर्म है; किन्तु मोक्षका अंग या साधन नहीं है। तपसे-धर्मसे पुण्य होता है, शक्ति मिलती है। सिद्धि मिल सकती है। लोकमें सम्मान और सुख-सुबिधा, सेवक मिल सकते हैं; किन्तु तप अन्तःकरण शुद्ध करके भगवत्प्राप्तिका साधन कदाचित ही बनता है। फिर तप और धर्मका प्रभाव तो पूजा और प्रसिद्धि खा जाती है। अतः तप या अन्य कोई विशेष धर्म, साधनानुष्ठान करना ही हो तो ऐसे ढंगसे करना चाहिये कि वह लोकदृष्टिमें न आवे।

एक महात्माने बस्तीसे दूर जंगलमें कुटिया बनायी। लेकिन उस कुटिया तक पहुँचनेके लिए मार्गके दोनों ओर चूनेसे पुते पत्थर थोड़ी-थोड़ी दूरीपर रख दिये। यह अपने एकान्त जंगलमें रहनेका विज्ञापन ही हुआ या

और कुछ ? वैसे यह विज्ञापन सफल हुआ। कुछ ही वर्षोंमें भक्तोंने उनका विशाल आश्रम बनवा दिया।

जो सचमुच साधक है उसे इस प्रकारके किसी भी विज्ञापनसे बचना चाहिऐ। भगवानने गीतामें जो यह आहार-विहार, कर्मचेष्टा, निद्रा-जागरण सबमें युक्त रहनेकी बात कही, उसका बहुत अधिक महत्त्व है और बहुत व्यापक है यह बात। आहार, वेश (वस्त्र), कर्म-चेष्टा—उठना-बैठना-बोलता-रहना आदि सबमें साधकको युक्त बने रहना है। किसीमें ऐसी विशेषता उत्पन्न नहीं नहीं करनी है कि वह लोगोंको आकर्षित करने लगे।

'विद्वान् युक्तः समाचरन्।' विद्वान—समझदारको, ज्ञानीको, भक्त महापुरुषको और साधकको भी उपयुक्त तथा सम्यक् आचरण करना चाहिऐ।

आहार, वेश, वाह्याचरण सामान्य—सर्वसाधारण जैसा ही उत्तम होता है। जीवनका ऊपरी ढंग असाधारण बनाना तो विज्ञापन है और वह व्यापारको जन्म देता है। जीवनका अन्तरंग, मन-बुद्धि स्वच्छ, निर्मल होना चाहिये। चित्तमें तितीक्षा, संयम, भक्ति, सुख-दुःख तथा मानापमानमें समता होनी चाहिऐ। मोक्ष या भक्तिका आधार सर्वथा अन्तरंग है, चित्तमें समत्त्व तथा संसारके लोगों, परिस्थितियोंसे असंगता अपेक्षित है; किन्तु इस असंगताका वाह्य प्रदर्शन अनावश्यक ही नहीं त्याज्य भी है।

एक महात्माका चश्मा गिरकर टूट गया। वे उसके टुकड़ोंको उठाकर रोने लगे—'हाय, हाय, तुमतो टूट गये। अब मैं कैसे पढ़ूंगा।'

एक श्रद्धालु भक्त बोले—'आप रोते क्यों हैं ? मैं दूसरा चश्मा ला दूंगा।'

'तू कैसे ला देगा ?' महात्मा बोले—'तू बहुत चतुर बनता है; किन्तु तेरा लाया चश्मा क्या काम आवेगा ? वह तो अमुक डाक्टरने जाँच करके बतलाया था और अमुक दूकानदारने ठीक देखकर दिया था। अब मैं उसके यहाँ जाऊँगा तब तो चश्मा मिलेगा।'

'आँखके अच्छे डाक्टर यहाँ हैं। चलिये उनसे जाँच करा देता हूँ।' भक्तने कहा—'चश्मेकी भी यहाँ बड़ो दूकानें हैं।'

'तू अपनी चतुराई रहने दे।' महात्माने कहा—'डाक्टर अच्छे होंगे। दूकानें भी होंगी; किन्तु मेरा उनपर विश्वास तो है नहीं। मैं चाहे जिसको अपनी आँखें देखने नहीं दे सकता।' वे फिर चश्मेके टुकड़ोंको लेकर रोने लगे। लेकिन एक दो मिनट पीछे ही दूसरा कोई आया तो उसके घरकी कुशल पूछते उसके साथ चल पड़े। चश्मेके टुकड़े, कमानी भी वहीं पड़े रहे। वे उन्हें भूल चुके थे।

'बुधो बालकवत् क्रीडेत, कुशलो जड़वच्चरेत्।
बदेदुन्मद्वत्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्॥

महापुरुष बुद्धिमान होनेपर भी बालकके समान आचरण करे, चतुर होनेपर भी पागलके समान व्यवहार करे, विद्वान होनेपर भी उन्मत्तके समान बोले, वेदज्ञ होनेपर भी पशुके समान रहे, यह आदेश इसीलिए है कि लोग उसे महापुरुष जानकर घेरे न रहें।

तथा तथा चरेद्विद्वान् सतां धर्ममगर्हयन्।
जना यथावमन्येरन् गच्छेरन् नैव संगतिम्॥

ज्ञानी महापुरुषको सज्जनोजित धर्मके विरुद्ध तो आचरण नहीं करना चाहिये और न धर्मकी निन्दा करनी चाहिये; किन्तु इससे बचते हुए ऐसा ऐसा व्यवहार करना चाहिये जिससे लोग उसका अपमान करें और उसके समीप न आवें।

एक अवधूत एक मटमैलो बोतल लिए घूमते थे। पानी भरे रहते थे उसमें और वह पानी पीकर शराबीके समान लड़खड़ाते, बड़बड़ाते चलते थे। कभी शराबकी दूकानमें जाकर कहते—'इसे भर दे!' किन्तु बोतल दूकानदारको पकड़ाये बिना ही फिर चल देते—'तेरे हाथ गन्दे हैं। मैं खुद अपनी बोतल भरूँगा।'

लेकिन आज तो अपना विज्ञापन करनेकी प्रतिस्पर्धा साधुवेशधारियोंमें चल रही है। गली-गली तत्त्वज्ञानी, भगवत्प्राप्त लाउडस्पीकरोंपर भीड़ एकत्र करके अपने तत्त्ववेत्ता होनेका, भगवत्प्राप्त होनेका उद्घोष करते फिरते हैं। अपने नामके सामने इन उपाधियोंके बोर्ड लगाये हैं।

जगद्गुरु, जगदाचार्य, महागुरु, विश्वगुरु, परमगुरु आदि इतने हो गये हैं कि नवीन गुरुओंको ढूँढ़े कोई भारीभरकम उपाधि ही नहीं सूझती है।

भगवानोंकी भरमार है आज और अब तो जगद्गुरु और भगवान बनानेवाले भी होने लगे हैं।

यह सब कलियुगका प्रभाव है। अतः

अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम्।

दोष किसीका नहीं है। नट जब रंगमंचपर महात्माका अभिनय करेगा, तब भी उसकी दृष्टि तो पुरस्कारपर ही रहेगी।

साधकको युक्ताहार-विहारपर दृष्टि रखनी चाहिये। इसमें विहारका अर्थ सम्पूर्ण व्यवहार है, यह बात ध्यान देनेकी है।

मनुष्य त्याग करके सादा जीवन व्यतीत करता है, किन्तु यह सादगी तब सच्ची होती है जब यह उसके मनमें महत्त्व पा सके। अन्यथा मनुष्यकी महत्त्वबुद्धि धनमें, पदमें तथा प्रतिष्ठामें बनी रहती है।

यह आवश्यक नहीं है कि आपमें धन-संग्रह, कुर्सी पानेका प्रयत्न अथवा प्रतिष्ठा-लोलुपता दीखती हो। इनके प्रति आपकी महत्त्वबुद्धि है या नहीं, इसकी कसौटी यह है कि ये जिसके पास हैं, उनको आप कितना महत्त्व देते हैं।

एक प्रसिद्ध उद्योगपतिका साधु जब दौड़कर स्वागत करते हैं, उसकी सुविधा या इच्छापूर्तिके लिए सेवकके समान लग जाते हैं तो वे उनसे कुछ लाभ पानेकी आशा करते हों, यह आवश्यक नहीं है। वे केवल इसलिए ऐसा करते हैं; क्योंकि उनके मनमें अभी धनवानकी महत्ता बैठी है। अतः अवसर आनेपर वे लोभके बड़े धक्केको सह नहीं सकेंगे।

कोई बड़ा नेता या उच्चपदाधिकारी आनेपर जो उसक स्वागत-सत्कार है, वह भी पदके-अधिकारके प्रति महत्त्वबुद्धि ही है। जहाँ उससे कुछ लाभ उठानेकी भी इच्छा है, वहाँ तो साधकपना ही नहीं है। वह स्वागत-सत्कार व्यापार मात्र है।

एक अच्छे साधक हैं; किन्तु उन्हें किसी विषयमें निर्णय लेना हो तो अमुक विख्यात पुरुषका निर्णय ही उन्हें ठीक लगता है। ऐसा नहीं है कि वे न जानते हों कि इस विषयमें उन प्रसिद्ध पुरुषसे अधिक विद्वान दूसरे हैं।

उन विद्वानोंतक उनकी पहुँच भी है; किन्तु अन्तर्मनमें जो सम्मान, लोक प्रतिष्ठाके प्रति महत्त्वबुद्धि है, वह अपने अनुकूल कार्य करा लेती है।

जब महत्त्वबुद्धि होती है तो वह जिनमें होती है, उनके दोष नहीं देखने देती। किसी आश्रमका संचालक जिन साधारण दोषोंके होनेपर किसीको आश्रममें स्थान नहीं देता, उस प्रकारके बहुत बड़े दोष धनी तथा पदाधिकारीमें हैं, यह जानते हुए भी उनका उत्साहपूर्वक स्वागत करता है।

जो दोष संकेतसे भी सहन करने योग्य नहीं लगते, वे ही किसी प्रसिद्ध पुरुषमें बहुत हैं, यह जानते भी उसकी वन्दना, सेवा चलती है। यह अन्त:करणकी दुर्बलता है और यह सूचित करती है कि भीतर अभी धन, अधिकार या प्रसिद्धिकी कामना छिपी हुई है।

साधकको इस महत्त्वबुद्धिपर भी सावधान दृष्टि रखनी चाहिये। उसकी महत्त्बुद्धि धनमें नहीं, त्यागमें होनी चाहिये। अधिकारमें नहीं विवेकमें होनी चाहिये। प्रसिद्धिमें नहीं, भगवत्प्रेम एवं भगवन्निर्भरतामें होनी चाहिए।

अन्तमें एक बार फिर कह दें कि जीवनका वाह्य व्यवहार तथा भोग दोनों अतियोंसे बचकर सामान्य, मध्यम बनाये रखना ही साधकके लिए सहायक तथा हितकर है।



चिन्तन-सरणि—

१—आहारकी उपयुक्तता क्या ? साधकवृत्ति स्वत: सात्विक आहारकी ओर प्रवृत्त करती है; किन्तु इसमें भी अति होना सम्भव है। अत: सावधानी अपेक्षित है। यहाँ श्रीकृष्ण सरलतासे सात्विकाहार कह सकते थे; किन्तु यह उन्होंने नहीं कहा।

वैसे गीतामें सात्विक आहारके जो लक्षण दिये गये हैं, वे कम ही पदार्थोंमें पूरे मिलते हैं। क्योंकि कोई आयु सत्व और आरोग्यके विपरीत होता है तो कोई सुख-प्रीति बढ़ानेवाला नहीं होता। कुछ पदार्थ रसीले नहीं,

सूखे होते है और अधिकांश फल पेटमें शीघ्र पच जाते हैं। वे स्थिर तथा स्निग्ध नहीं हैं। जो स्थिर और स्निग्ध हैं वे सुपाच्य नहीं होते।

फलाहार या दुग्धाहार करनेवाले लोग भी कम नही हैं समाजमें; किन्तु ऐसे विशेष आहारका नियम लेते समय देखना चाहिए कि उसकी ठीक व्यवस्था आपके पास है या नहीं। यदि दूसरोंको आपके लिए व्यवस्था करनी है तो आपके कारण अनेकोंको उलझन, विशेष भागदौड़ करते रहना होगा और आपको भी विक्षेप होता रहेगा। इससे सात्विक आहार भी राजस बन जायगा।

'पूतंमथ्यमनायासमाहारं सात्विकं स्मृतम्।

श्रीमद्भागवतकी यह बात मानने योग्य है। भोजनका पदार्थ शास्त्रदृष्टिसे पवित्र हो, अपने स्वास्थ्यके अनुकूल हो और उसे पाने, तैयार करनेमें कम श्रम करना पड़े तो वह सात्विक है।

२—विहार भी उपयुक्त। विहार क्या? घूमना, टहलना, व्यवहार करना। अपने कुल, समाज, वर्णादिके अनुसार जो व्यवहार आप करते हैं वह सब।

गृहस्थ पत्नीकी चिन्ता न करके कठोर ब्रह्मचर्य पालन करने लगे या अत्यन्त विलासी बन जाय, यह दोनों भूलें हैं। इसी प्रकार बराबर मुख लटकाये गम्भीर बने रहना अथवा व्यंग करते रहना, बहुत हँसोड़पना, ये भी बुराई हैं।

३—आवश्यक श्रम किया जाय। ऐसा नही कि शरीर और मस्तिष्क कुछ किये बिना निकम्मा, अस्वस्थ रहने लगे और ऐसा भी नहीं कि इतना अधिक श्रम शारीरिक या मानसिक किया जाय कि शरीर अथवा सिरको थका दिया जाय।

मुझे अनेक साधक मिले हैं, जिन्हें बुढ़ापेमें बवासीर हो रही थी अथवा वायुविकार था। कुछ तो पागल हो चुके थे। युवावस्थामें चाहे जहाँ देरतक स्थिर बैठे ध्यान-चिन्तन करते रहे थे। ध्यान ही नहीं था कि पत्थर या कठोर भूमिपर अथवा रेतमें या डनलपके गद्दपर देरतक स्थिर बैठना हानि करता है। यह हानि धीरे-धीरे होती है। युवावस्थामें पता नहीं लगती। ऐसे ही बलपूर्वक प्राणायाम, श्वास रोकना पागल कर देता है।

४—तितीक्षा साधकका गुण है; किन्तु तपस्या तो धर्म पुरुषार्थ है। सिद्धि या चमत्कार प्राप्त होता है तपस्यासे। तितीक्षा जानबूझकर अभाव उत्पन्न करके कष्ट सहना नहीं है। जो कष्ट या अभाव स्वत: प्राप्त हो, सामान्य प्रयत्नसे उसका निवारण न हो सकता हो तो उसे सन्तुष्ट मन सह लेना तितीक्षा है।

जब व्यक्ति त्यागकी धुनमें फल या सब्जियोंके छिलकोंपर ही रहनेका आग्रह करता है तो उसकी यह अति विपरीत प्रतिक्रिया भी करती ही है। वह रोगी हो जा सकता है अथवा मनमें प्रतिक्रिया हुई तो भोगी हो जायगा।

५—निद्रा कितनी आवश्यक है ? वह विभिन्न लोगोंकी स्थितियोंपर, स्वास्थ्यपर निर्भर है।

प्रात: कब जाग जाना चाहिए था ?

जल्दी सो जाना और जल्दी जागना उत्तम माना गया है; किन्तु कुछ लोगोंको निद्रा ही देरसे आती है। अत: शास्त्रोंने सीमा बना दी—'सूर्योदयसे पहिले जाग जाना चाहिए।'



समबुद्धिर्विशिष्यते—

श्रीमद्भगवद्गीताको 'अनासक्ति योग' कहनेकी अपेक्षा भी अधिक उपयुक्त है उसे 'समत्व बुद्धियोग' कहना। श्रीकृष्णने गीतामें योगकी परिभाषा करदी—**'समत्वं योग उच्यते।'** २.४८

वैसे गीतामें योगकी दो परिभाषाएँ और हैं—

'योगः कर्मसु कौशलम्।' २.५०

कर्म करनेकी कुशलताका नाम योग है।

कैसी कुशलता ?

इसीका उत्तर है—**'समत्वं योग उच्यते।'** २.४८

इसका अर्थ है कि कर्म करनेमें ऐसी कुशलता जिससे कर्ताके भीतर राग-द्वेष न आवे और बाहरसे आनेवाले लाभ-हानि, मानापमान, यश-अयश, गुख-दुःख प्रभृति समस्त द्वन्दोंमें वह समान बना रहे।

इस समत्त्व रूप योगकी पूर्णता सूचितकी यह कहकर—

'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।' गीता ६.२३

दुःख आवे, उसका संयोग तो हो; किन्तु उस संयोगका वियोग हो जाय, इस स्थितिका नाम योग है।

लेकिन क्या केवल दुःखके संयोगके वियोगका नाम योग है ? नहीं, सुखके भी संयोगका वियोग होना चाहिये। सुख-दुःख समान हो जायँ। अतः मुख्य परिभाषा तो 'समत्त्वं योग' ही रही।

सामान्यतः यह परिभाषा ठीक लगती है; किन्तु जब इसे व्यवहारके क्षेत्रमें लाते हैं तो बात बहुत ही अटपटी लगने लगती है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ गी० ५.१८

विवेकी पुरुष विद्या एवं विनय (सद्गुणोंसे सम्पन्न) ब्राह्मणमें, गौमें, हाथीमें, कुत्तेमें, चाण्डालमें समदर्शी होते हैं।

यहाँ तक कोई समस्या नहीं उपस्थित होती; क्योंकि 'समवर्तिनः' तो कहा नहीं गया है। केवल बुद्धिसे सबमें एक ही तत्त्वको देखना है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ गीता ५.१९

उन्होंने यहीं—इसी जीवनमें जन्म-मृत्युके चक्रको—संसरणको जीत लिया, जिनका मन समतामें स्थित है। क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और समान है, अतः (समत्वमें स्थित) वे ब्रह्ममें स्थित हैं।

इस तथ्यको आचरणमें कैसे आना चाहिये, यह वहीं स्पष्ट किया गया—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥ गीता ५.२०

प्रियको प्राप्त करके बहुत हर्षित न हो और अप्रियके मिलनेपर उद्विग्न न हो। बुद्धि स्थिर रहे। विवेक विचलित न हो—सम्मूढ न बने अर्थात् बुद्धि अनिश्चयमें न उलझी रहे, ऐसा ब्रह्मवेत्ता ब्रह्ममें ही स्थित है।

इसी तथ्यको गीतामें बार-बार दुहराया गया है। समत्वमें अवस्थिति गीतावक्ताको अभीष्ट है—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
नहिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ गीता १३.२८

सर्वत्र समान रूपसे ईश्वरको भली प्रकार अवस्थित देखनेवाला अपने आपसे अपनी ही हत्या नहीं करता, अतः वह परमगतिको प्राप्त करता है।

सर्वत्र ईश्वर अवस्थित है, वह सर्वव्यापक है, यह बात तो ईश्वरको माननेवाले सब मानते हैं। यहाँ यही बात नहीं कही गयी। यहाँ कहा जा रहा है कि ईश्वरीय सत्ता सर्वत्र समान रूपसे भली प्रकार स्थित है। वह गधेमें कम और गौमें अधिक प्रकाशित नहीं है। यह समझनेवाला सबको अपना-स्वरूप आत्मा ही देखेगा, तब वह किसीको भी मारे, सतावे तो अपनी ही तो हत्या कर रहा है। यह अपनी ही हत्या उससे छूट जायगी।

सीयराममय सब जग जानी ।

उसे जगतके सब जड़ चेतन भगवद्रूप दीखने लगेंगे और क्या भगवानमें दोष या पाप होता है ? जब सब भगवान् हैं तो उनमें साधु-असाधु, पापी-पुण्यात्माका अन्तर सम्भव कैसे है ? इसीलिए—

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते । गीता ६.९

इसमें विशिष्यते बहुत महत्त्वका है । संसारका सामान्य व्यवहार तो भले-बुरेका विवेक करके ही चलता है । सब लोग सज्जन-दुर्जनको समान मानकर व्यवहार नहीं कर सकते । वह तो विशिष्ठ है जो साधु और पापीको भी समान समझता है । उसकी विशेषता ही है कि सर्वसाधारणके समान वह जन्म-मरणके चक्रमें भटकनेवाला प्राणी नहीं है । वह जीवन्मुक्त है । ब्रह्ममें स्थित है; क्योंकि समत्व तो ब्रह्म है ।

श्रीरामचरित मानसमें कहा गया—

गुन यह उभय न देखिए देखिय सो अविवेक ।

गुण और दोषको देखना ही अविवेक है । यह बात श्रीमद्भागवतमें अधिक स्पष्ट की गयी है—

गुणदोष दृशिर्दोषः गुणस्तूभयवर्जितः । भागवत ११.१९.४५

आप कहीं गुण देखते हैं, कहीं दोष देखते हैं, यह आपकी दृष्टिका दोष है । आपका दृष्टिकोण ठीक नहीं है । गुण तो है गुण-दोष दोनों न देखे जायँ । सर्वत्र समान स्थित परमात्मा ही दृष्टिमें रहे ।

मनुष्यका अन्तःकरण संस्कार शून्य नहीं हुआ करता । जैसे हम कोई वस्तु देखते हैं तो दावा नहीं कर सकते कि उसे ठीक-ठीक ही देखते हैं । हम अपने नेत्रोंकी शक्तिके अनुसार उसे देखते हैं । यदि सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्रसे देखा जाय तो उसी वस्तुका कुछ दूसरा ही रूप हमें दिखलायी पड़ेगा । इसी प्रकार हमारी बुद्धिपर भी हमारे संस्कारोंका चश्मा सदा चढ़ा रहता है । अतः हम जो कुछ किसी वस्तु या व्यक्तिके विषयमें सोचते हैं, उसमें हमारे संस्कारोंका रंग चढ़ा होता है ।

जिससे हमारी प्रीति है, जिसके प्रति सहानुभूति है, उसमें हमको दोष

नहीं दीखते। उसके उलटे कर्म भी उचित लगते हैं। जिससे हमारी शत्रुता है, उसमें दोष-ही-दोष दीखते हैं। उसके भले कर्मोंमें भी हमें बुराई दीखने लगती है।

वैज्ञानिक कहते हैं—'किसी तारेकी वर्तमान स्थिति जाननेका हमारे पास कोई उपाय नहीं है। हम उस तारेसे यहाँ पहुँचे प्रकाशका विश्लेषण करके उस तारेके विषयमें जो कुछ जान पाते हैं, वह तो उस तारेकी कई सौ वर्ष या कई सहस्र वर्ष पहिलेकी स्थिति है; क्योंकि हमारे समीप उस तारेसे चले प्रकाशको पहुँचनेमें उतने सौ या सहस्र वर्ष लगते हैं।'

इसी प्रकार किसी वस्तु या व्यक्तिकी ठीक स्थिति जाननेका भी हमारे पास कोई उपाय नहीं है। हम अपनी बुद्धिसे ही निर्णय करेंगे और बुद्धि हमारे संस्कारोंके प्रभावसे मुक्त कभी होगी नहीं।

निर्दोष और सम ब्रह्म है। अत: सर्वत्र समबुद्धि जिसकी है, वह ब्रह्ममें स्थित है। इस समबुद्धिकी बात समझने योग्य है; क्योंकि बिना इस समत्वको प्राप्त किये जन्म-मरणका चक्र छूटता नहीं। गुण-दोषको देखना अविवेक है तो उससे पिण्ड छूटना चाहिये।

'गुन यह उभय न देखिय, देखिय सो अविवेक।'

किसीने चोरीकी, हत्याकी और इसे हम ठीक-ठीक जानते भी हैं, तो भी उस व्यक्तिको चोर या हत्यारा मानना अविवेक है, यह बात क्या आपकी समझमें आती है?

यह बात समझमें आनी चाहिये। यही मैं कहना चाहूँगा कि आप 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' शीर्षक लेखको फिर एक बार पढ़ जायँ। कर्म कोई व्यक्ति नहीं करता। उसके शरीर या मनसे जो कुछ होता है, सब क्रिया होती है। जैसे आँधीके चलनेसे वृक्ष हिलते हैं। आँधीसे वृक्षकी शाखा टूटकर गिरे और उससे दबकर कोई मर जाय तो क्या वृक्ष हत्यारा है? उसने हत्या की?

इसी प्रकार जब सब कार्य प्रकृति करा रही है तो उन कार्योंका कोई कर्ता कहाँ है। यह तो कर्तृत्वके अभिमानसे वह पाप या पुण्यका भागी बन रहा है।

कस्यचिन्मायया नूनं जनो मोह विमूर्छितः। भागवत०

किसी व्यक्तिको हिप्नोटाइज (सम्मोहित) करके उसके द्वारा कोई चोरी या हत्या करा दे तो वह सम्मोहित व्यक्ति अपराधी है या सम्मोहित करनेवाला। दुर्भाग्यसे ऐसी घटनाएँ पृथ्वीपर हुई हैं, यदा-कदा होती हैं। जब यह सिद्ध हो जाता है कि अपराधी सम्मोहित था तो न्यायालय उसे दण्ड नहीं देता। सम्मोहित करनेवालेको अपराधी माना जाता है।

लगभग सम्पूर्ण जगत (कुछ थोड़े सन्तों-साधकोंको छोड़कर) सम्मोहित हो रहा है। इस मोह निद्रामें निमग्न व्यक्ति जो कुछ भी भला या बुरा कर रहे हैं, इसमें उनका कर्तृत्व क्या है ? उन्हें भला या बुरा समझना तब क्या अविवेक नहीं है ?

'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।' गीता १८.६१

संसारमें तो सब कठपुतलियाँ हैं। इनको चलानेवाला सूत्रधार इनके भीतर छिपा बैठा है; किन्तु उसके इङ्गितपर चलनेवाली कठपुतलियोंमें-से कोई साधु और कोई पापी है, यह मानना अविवेक है या नहीं ?

वह सञ्चालक क्यों किसीको सत्कर्ममें या किसीको दुष्कर्ममें लगाता है ?

इसलिए कि बिना ऐसा किये उसका नाटक चल नहीं सकता। यदि कोई रावणका अभिनय स्वीकार न करे, कोई कैकेयी, कोई मन्थरा और कोई सूर्पणखा न बने तो केवल दशरथ-कौसल्या, भरत-लक्ष्मण, विभीषणका अभिनय देकर रामलीला सम्पन्न हो सकेगी ?

रामलीलामें ठीक महाराज जनकका अभिनय करनेवाला जितना प्रशंसनीय है, रावणका ठीक अभिनय करनेवाला क्या उससे कम प्रशंसनीय है।

यह अभिनय भी मनुष्यसे ईश्वर नहीं करा रहा है और न कोई शैतान करा रहा है। सबके सब सो रहे हैं और अपनी नींदके आवेशमें स्वप्नमें बड़बड़ा रहे हैं या हाथ-पैर मार रहे हैं।

मोह निसा सब सोवनि हारा।
देखहिं सपन अनेक प्रकारा॥

अब नींदमें कोई स्तुति बोल रहा है और कोई गाली बक रहा है तो इसमें साधुता या पापीपना कहाँसे आगया ? ईश्वरकी जहाँतक बात है, वहाँ तो कहा गया—

'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ गी० ५.१५

ईश्वर न किसीके पाप ग्रहण करता, न पुण्य। वह किसीको पाप या पुण्यमें लगाता भी नहीं। प्राणीका ज्ञान उसीके अज्ञानसे ढका है, इसीसे सब सम्मोहित हो रहे हैं।

ऐसे सम्मोहित लोगोंकी चेष्टाओंको लेकर किसीको साधु और किसीको पापी समझना अविवेक तो है ही। अतएव—

'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।' गीता ६.९

लेकिन साधु और पापीमें समबुद्धि रखना ही परम सत्य नहीं है। क्योंकि मनुष्य निद्रासे जाग सकता है और जागनेपर उसे कर्म-स्वातन्त्र्य प्राप्त हो जाता है। तब वह जो कुछ करता है, उस क्रियाको निद्रा-सम्मोहित लोगोंकी क्रियाके समान मानना ही अविवेक होगा।

जानिय तबहि जीव जग जागा।
जब सब विषय-विलास विरागा॥

कर्म-स्वातन्त्र्यका विचार करते समय कह आये हैं कि मनुष्य कर्म-योनिका प्राणी है, अत: कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। यह उसका स्वातन्त्र्य सीमित है। वह अर्थ, कामके क्षेत्रमें कुछ करनेमें स्वतन्त्र नहीं है। केवल मोक्षके क्षेत्रमें प्रयत्न करने और सफलता पानेमें स्वतन्त्र है।

इसका फलितार्थ यह भी है कि जो जाग गये हैं, जो मोक्षके क्षेत्रमें अपने स्वातन्त्र्यका उपयोग कर रहे हैं, केवल वे ही मनुष्य हैं। शेष सब तो मनुष्याकार द्विपाद्पशु हैं।

इसका यह भी फलितार्थ है कि मनुष्य-योनि अर्थ, या कामके उपार्जनके लिए मिली ही नहीं है। यह योनि ही मिली है मोक्ष पानेके लिए।

जो न तरै भवसागर, नर समाज असपाइ।
सो कृतनिन्दक मंदमति, आतमहन गति जाइ॥

अब जो जाग गये हैं, जो अपनी स्वतन्त्रताका उपयोग कर रहे हैं, वे साधक होंगे या संत और संत तो विशेष हैं। उनके प्रति समबुद्धिका उपदेश कहीं नहीं है। मानसमें श्रीराम नवधा भक्तिका उपदेश शबरीजीको करते कहते हैं—

सातवँ सब मोहिमय जग देखा।
मोते संत अधिक करि लेखा॥

भागवतमें, दूसरे शास्त्रोंमें और सत्पुरुषोंकी वाणियोंमें भी संतोंकी महिमा भरी पड़ी है। भगवान् नारायणने कहा दुर्वासाजीसे—

'अहं भक्तपराधीनोत्धस्वतन्त्र इव द्विज।' ९.४.६३

ब्रह्मर्षि मैं सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होकर भी गुलामकी भाँति हूँ। भक्तोंके मैं पराधीन हूँ।

अत: साधु और पापीमें तो समबुद्धि ठीक है; किन्तु सोये लोगोंमें और जागनेवालोंमें समबुद्धि ठीक नहीं है। जागनेवालोंमें भी जो लक्ष्य प्राप्त कर चुके हैं, वे तो अत्यन्त विशिष्ट हैं। वे कठपुतली नहीं रहे, वे तो सूत्रधारसे एक होकर बैठे हैं।

भगति भगत भगवंत गुरु, चतुर नाम वपु एक।

इसे भूला नहीं जा सकता।



चिन्तन-सरणि–

१. विशेष बात ध्यान देनेकी यह है कि समबुद्धिको विशेष कहा गया है। सममनः या समाचारः को विशेष कहा गया है।

'पण्डिताः समदर्शिनः' गीताके इस पदकी टीकामें कई टीकाकारोंने स्पष्टीकरण किया है—**'समदर्शिनः नतु समवर्तिनः।'** अर्थात् वे समदर्शी तो होते हैं; किन्तु समवर्ती—सबके साथ समान व्यवहार करनेवाले नहीं होते।

२. **'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी।**
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ गीता ५.१८

बड़े अच्छे नाम गिनाये गये हैं। गाय, हाथी और कुत्तेके साथ समान व्यवहार सम्भव है? गायके समान कुत्तेको भी आप केवल घासपर जीवित रख सकोगे या हाथीको घास उतनी ही दोगे, जितनी गायको?

कट्टरतम साम्यवादी भी यह नहीं सोचता कि सभी मनुष्योंको समान मात्रामें आहार दिया जाना चाहिए। भोजन कोई कम करता है, कोई अधिक और यह तारतम्य बहुत थोड़ा या उपेक्षणीय नहीं होता।

मुझे स्मरण है, द्वितीय विश्व युद्धके समय जब वस्त्रपर नियन्त्रण स्थापित हुआ और प्रत्येक व्यक्तिके लिए कपड़ेका कोटा निर्धारित हुआ तो सिनेमाके एक सुप्रसिद्ध बहुत मोटे हास्य अभिनेता निर्धारित कोटेके वस्त्रका टुकड़ा लेकर नियन्त्रणके उच्चाधिकारीके पास गये और उसके सामने उस टुकड़ेको कमरसे लपेटनेका प्रयत्न करते बोले—'आपकी क्या राय है, मैं इसे आगेसे लपेटते हुए पतलून खोल दूँ या पीछेसे लपेटते हुए?'

वह टुकड़ा उनकी कमरके घेरेसे पर्याप्त छोटा था। उन्हें पूरे थानका परमिट देना पड़ा। सबको एक छोटा टुकड़ा और उन्हें पूरा थान, यह अन्याय है? नहीं है। जैसे भोजन पेटभर मिलना चाहिए, भले वह दो रोटी हो या बीस रोटी। वैसे ही वस्त्र, औषधि आदि भी आवश्यकतानुसार मिलनी चाहिए।

अस्पतालमें डाक्टर सब रोगियोंको एक ही दवाकी समान मात्रा दिया करे, ऐसा कहने वालेको आप पागल कहेंगे या नहीं ?

३. **सीयराममय सब जग जानी।**

यह बुद्धिमें व्यवस्थित रहना चाहिए; किन्तु व्यवहार तो मर्यादाके अनुसार ही होना चाहिए।

गोलोकवासी श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) अपने प्रवचनोंमें कई बार कहते थे—'सेवकसे सेवा तो लेनी ही चाहिए। मनमें उसे प्रणाम करके कह लेना चाहिए 'प्रभु, आपने जो अभिनय मुझे दिया है, उसके अनुसार मैं आपको अब आदेश दूंगा।'

४. मैं होम्योपैथी दवा बाँटता हूँ। जब कोई रोगी आता है तो लगता है कि मेरे नटखट कन्हाईको मीठी गोलियाँ बहुत प्रिय हैं। यह इस रूपमें उन्हें खाने आगया।

कन्हाई कभी रोगी तो हुआ नहीं करता; किन्तु जो नाटक करके आया है, उसके अनुसार मुझे अपनी पूरी योग्यता, स्मृतिके अनुसार दवाका चयन करना चाहिए। इसमें उपेक्षा करूँ तो प्रमाद करूँगा।

५. 'समबुद्धि' का तात्पर्य है कि सबके प्रति समान सहानुभूति, समान आदर रहे बुद्धिमें।

६. समत्वमें बुद्धि स्थित रहे। व्यवहार तो देश, काल, पात्रके अनुसार होगा ही; किन्तु उस व्यवहारको हमारा राग-द्वेष, मोह, अभिमान प्रभावित न करे।

७. 'समबुद्धिर्विशिष्यते' की यह व्याख्या भी सर्वथा ठीक है कि समतत्त्वमें स्थित बुद्धि विशिष्ठ है। समत्वको आप निर्गुण ब्रह्म कहें अथवा सगुण परमात्मा, कोई अन्तर नहीं पड़ता' क्योंकि सगुण परमात्मा भी सर्वव्यापक है और सर्वत्र सम है। बुद्धि उस सममें ही स्थित रहे, संसारके विषम पदार्थोंमें व्यक्तियोंमें न लगी रहे, यह सर्वश्रेष्ठ स्थिति है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते—

मनुष्ययोनि ही कर्मयोनि है। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। इस बातमें वैदिक धर्मी सन्देह नहीं करेगा। क्योंकि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र न हो तो शास्त्रोंका उपयोग ही क्या? सब शास्त्र 'यह करो, यह मत करो।' यही तो बतलाते हैं। 'यह करो या यह सोचो, ऐसा विचार करो' इस प्रकारके आदेश उसीके लिए होंगे जो करनेमें स्वतन्त्र हो। जो करनेमें स्वतन्त्र ही न हो, उसे ऐसे आदेश कोई कैसे देगा।

गाय, बकरी, भेड़को न करने करनेका आदेश किसी ऋषि या शास्त्रने कभी कहीं दिया है? आप ही क्या कौए, गीध अथवा चींटीको उपदेश करनेकी बुद्धिमानी करेंगे? हिरन, बाघ या बन्दरको कोई व्याख्यान पिलाने लगे तो आप उसे समझदार या नेताजी मान लेंगे?

उपदेश—आदेश उसे दिये जाते हैं जो उसे समझ सकता हो और उसके अनुसार चलनेमें स्वतन्त्र हो। क्योंकि शास्त्र हैं, सन्त-महापुरुष सदासे उपदेश करते आये हैं और वेद तो नित्य हैं। अतः ये सब जिस मनुष्यके लिए हैं, वह इनका आदेश-पालनमें समर्थ है, ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।

यहीं प्रश्न उठता है कि मनुष्यकी स्वतन्त्रताकी कोई सीमा है या उसे कर्म करनेकी असीम स्वतन्त्रता है? क्योंकि असीम स्वतन्त्रता विश्वमें कहीं किसीमें देखी नहीं जाती। सबकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक शक्तिकी सीमा होती है। परिस्थिति चाहे जितनी अनुकूल हो, वह भी सीमित स्वतन्त्रता ही देती है। अपनी शक्ति, मनोबल, बुद्धिके अनुसार परिस्थितिके अनुरूप ही कर्म करनेको मनुष्य विवश है।

आप भले किसी राष्ट्रके अधिनायक ही बन जायँ; किन्तु अपने राष्ट्रसे बाहर आपको भी किसीको एक थप्पड़ मारनेमें दस बार सोचना पड़ेगा।

भूकम्प, ज्वालामुखी, हिम आदि तो आपकी आज्ञा मानेंगे नहीं। आपका शरीर भी समय-समयपर रोगी होगा। अतः असीम कर्म-स्वातन्त्र्य कोई वस्तु नहीं है।

जैसे सड़कपर चलनेमें आप स्वतन्त्र हैं; किन्तु सड़कपर चलनेवाले दूसरे भी तो हैं। आप किसीको धक्का देते चलने, किसीको बलपूर्वक पीछे हटा देनेको स्वतन्त्र नहीं हैं। मार्गपर चलनेके जो नियम हैं, उनका पालन करते हुए ही आप चलनेको स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार कर्मकी स्वतन्त्रता भी सीमित ही है। वह भी असीम नहीं है।

यह सीधी बात आप सरलतासे समझ सकते हैं कि मनुष्य जिस देश, समाजमें उत्पन्न होता है, उस देश, जाति, समाजके नियमोंको पालन करनेके लिए एक बहुत बड़ी सीमातक विवश होता है। इसके अतिरिक्त भी अंकुश हैं आपके कर्तृत्वपर और वह समझ लेने योग्य है।

'मा फलेषु कदाचन' यह बात गीतामें 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'के तत्काल बाद कही गयी है। अतः यह भी देखना होगा कि जब हम फल-भोगमें स्वतन्त्र नहीं हैं, तो उस फल भोगके लिए जो स्थान, परिस्थिति, निमित्त बनने हैं, उनको टालने या बदलनेमें हम कैसे स्वाधीन हो सकते हैं।

'हानि-लाभ, जीवन-मरण, जस-अपजस विधि हाथ'

ये बातें अपसे वशमें नहीं हैं। लेकिन हानि या लाभ, यश या अपयश आकाशसे तो कूदता नहीं। किसी वस्तु या व्यक्तिसे प्राप्त होता है। इसीलिए कह देना पड़ा—

'कोउ न काहु सुख-दुःख कर दाता।
निजकृत करम भोग सुनु भ्राता॥'

अपनेसे दूसरोंको या दूसरोंसे अपनेको जो सुख-सम्मान-सुविधा अथवा दुःख, अपमान, असुविधा मिलती है, उसमें मनुष्य केवल निमित्त होता है। इस निमित्त बननेसे वह अपनेको बचा नहीं सकता। अतः इस क्षेत्रमें उसका कर्म-स्वातन्त्र्य कुछ नहीं है।

बड़ा विचित्र तथ्य है यह। समाजका अधिकांश व्यवहार ही दूसरोंके सुख-सुविधा-सम्मानको देने या छीननेको लेकर चल रहा है। सब पाप-पुण्यका यही माध्यम है और इसीमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है? तो पाप-पुण्य होते क्यों हैं?

यहाँ मैं आपको अपने पुराने लेख 'कर्ता कौन ?'की स्मृति दिला दूं। वस्तुतः मनुष्य कर्ता न होनेपर भी कर्ममें कर्तृत्वका अभिमान करके पाप-पुण्यका भागी होता है ?

'अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।'

और तब **'कर्ताऽस्मीति निबध्यते ।'**

मैं कर्ता हूं, यह मान लेता है और इसी माननेके कारण बन्धनमें आ जाता है।

'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।
करै अन्यथा अस नहि कोई ।।'

ऐसा इसलिए है; क्योंकि—

'नट मर्कट इव सबहि नचावत।
राम खगेस बेद अस गावत ।।"

इस विषयमें गीताका स्वर तो और स्पष्ट है—

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।

अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें ही बैठा है और वही अपनी मायासे कठपुतलियोंके समान सबको घुमा रहा है।

इस मायाका भी स्पष्टीकरण है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।। —१३।२९

जो सब कर्म प्रकृतिके द्वारा ही होते हैं यह देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वही देखता है। वही दृष्टिवान है। शेष तो सब अन्धे (मूर्ख-अविवेकी) हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमित मन्यते ।। —३।२७

सभी (शुभ-अशुभ) कर्म प्रकृतिके गुणों (सत्त्व, रजस, तमस)के द्वारा ही सम्पन्न हो रहे हैं; किन्तु अहंकारसे सम्मूर्च्छित चित्त (अत्यन्त अविवेकी मनुष्य) मैं कर्ता हूँ, यह मान लेता है।

यहीं प्रश्न फिर उठता है कि जब सब शुभाशुभ कर्म ईश्वरकी प्रेरणासे प्रकृतिके द्वारा ही होते हैं, तब मनुष्यके कर्मस्वातन्त्र्यका अर्थ क्या है ?

हम आप जो आस्तिक अपनेको कहते मानते हैं, वे एक ओर अपनेको कर्म करनेमें स्वतन्त्र भी मानते हैं और दूसरी ओर ईश्वरको जगन्नियन्ता भी कहते हैं। यह मान्यता सर्वथा भ्रममूलक भी नहीं है। दोनों बातें शास्त्र सम्मत हैं। अत: इनकी गुत्थी सुलझाये बिना स्पष्ट नहीं होगा कि मनुष्य क्यों कर्मयोनिका प्राणी कहा गया और इसे कर्म करने में स्वतन्त्र माना गया।

मनुष्यकी स्थिति यह है कि वह भगवानके इस संसारोद्यानमें आया है; किन्तु भूल ही गया है कि उद्यान उसका नहीं है। अत: वह यहाँ जो कुछ करता है, उसमें उसका अविवेक सम्मिलित रहता है। जगतका बनानेवाला, चलानेवाला भी ईश्वर ही है। वह सर्वज्ञ और सर्वप्रथम है। अत: आप उसकी इच्छाके विपरीत ऐसा कुछ नहीं कर सकते, जिसका जगतपर कोई प्रभाव पड़ता हो। अर्थात् संसारमें शुभ या अशुभ परिणाम उत्पन्न करनेवाला कोई कर्म करनेमें आप स्वतन्त्र नहीं हैं। आप केवल अपने विषयमें स्वतन्त्र हैं। जो कर्म या विचार आपतक ही अपने परिणाम सीमित रखें, केवल उनको करनेमें आप स्वतन्त्र हैं। मनुष्यके कर्म-स्वातन्त्र्यकी यही सीमा है। इसके बाहर तो वह अहंकार विमूढ़ होकर अपनेको कर्ता मानता है और इस मूर्खता पूर्ण कर्ताभिमानके कारण पाप-पुण्यके बन्धनमें पड़ता है।

मनुष्यके इस कर्म-स्वातन्त्र्यको और स्पष्ट किया जाना चाहिऐ। मनुष्यके चार ही पुरुषार्थ (प्राप्य) हैं—१. अर्थ २. धर्म ३. काम और मोक्ष। इनमेंसे अर्थ और काम अर्थात् भोग प्रारब्धसे प्राप्त होते हैं। इनके सम्बन्धमें असन्तोष ही बन्धनका कारण है।

पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसन्तोषोऽर्थ कामयो। (भागवत–८-१९-२५)

संसारके लोगोंका अधिकांश जीवन अर्थ-कामकी प्राप्तिके लिए भाग दौड़में लगा है और यह भाग दौड़ सर्वथा अज्ञान जन्य है। इस क्षेत्रमें मनुष्य

न कुछ करनेमें स्वतन्त्र है और न कुछ पानेमें; क्योंकि अर्थ तथा भोगके साधनोंकी उत्पत्ति, वितरण, प्राप्ति-अप्राप्ति सब जगन्नियन्ताके हाथमें है और मनुष्यको उसके प्रारब्धानुसार मिलती है।

धर्म पुरुषार्थ कभी अपवादरूप ही पुरुषार्थ बनता है। अन्यथा धर्म संसारमें अथवा स्वर्गादिमें अर्थ या भोग पानेके लिए अथवा मोक्षके साधनरूपमें अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए किया जाता है। अतएव धर्म जब अर्थ या कामका साधन बनाया जाता है तो उसमें कर्म-स्वातन्त्र्य रह नहीं सकता। क्योंकि अर्थ और कामका जो नियमन करनेवाला है, वह इनके साधनोंका भी नियन्ता बने बिना कैसे रहेगा।

धर्म जब मोक्षके साधनरूपमें किया जाता है, तब वह अन्तःकरणकी शुद्धिका हेतु होता है। तब धर्म करनेवाला भले दान, परोपकार, सेवादिमें कुछ भी करे, उसकी दृष्टि अन्तर्मुख होती है। वह नहीं देखता कि उसके दान, परोपकार, सेवाका लोकमें कितना परिणाम हो रहा है। वह इसीपर ध्यान रखता है कि उसके चित्तमें दानी, परोपकारी, समाज सेवक होनेका अहंकार न आने पावे।

लोगोंकी दरिद्रता, दुःख, अभाव उनके प्रारब्धसे दूर होगा या उसके प्रयत्नसे ? अतः अपने प्रयत्नका गर्व तो आपको पथभ्रष्ट करेगा। धर्मात्मा वह है जिसकी पक्की निष्ठा है—'सब भगवत्स्वरूप हैं। जनता जनार्दन है और जनार्दन दरिद्र, रोगी, अभावग्रस्त हुआ नहीं करते। यह तो उन परमकृपालुकी कृपा है कि इन विविध रूपोंमें उपस्थित होकर मुझे अपनी सेवाका सौभाग्य देते हैं।'

ऐसा धर्म और मोक्ष सर्वथा ऐ-कान्तिक है। इनका प्रभाव समूहपर, जगतपर नहीं पड़ा करता। अतः मनुष्य केवल मोक्ष प्राप्तिमें, मोक्षके साधनमें, स्वतन्त्र है।

प्रकृति या माया तो सब शुभा-शुभ कर्म कराती है; किन्तु उसके कर्तृत्वकी भी सीमा है। वह किसीको अपने क्षेत्रसे बाहर कैसे ले जायगी ? उसकी अपने शासनसे बाहर चले जानेकी प्रेरणा वह देगी, आप इसे स्वाभाविक मानते हैं या सम्भव मानते हैं ? यह काम प्रकृतिका नहीं है।

अत: प्रकृति या प्रकृतिके गुणोंके शासनक्षेत्रसे ही मोक्ष पुरुषार्थ परे है। यह तुरीय स्थिति है।

गीतामें जहाँ श्रीकृष्णने 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' कहा, वहीं केवल 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' कहकर चुप नहीं हो गये हैं। वे उन कर्मोंको करनेका आदेश बड़े बलपूर्वक करते हैं, जिन कर्मोंको करनेमें हम-आप अर्थात् मनुष्य स्वतन्त्र हैं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः मामेति पाण्डव॥ ११-१५॥

पाण्डव ! मेरे लिए कर्म करो। मेरे परायण बनो। मेरे भक्त रहो। कहीं आसक्ति मत करो। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति निर्वैर रहो। जो ऐसा रहता है, वह मुझे प्राप्त करता है।

मत्कर्मकृत—अर्थात् मनुष्य भगवानके लिए कर्म करनेमें—भक्तिमें, जप-कीर्तन—अर्चनादिमें स्वतन्त्र है।

मत्परमो—आप अपना प्राप्य चुननेमें स्वतन्त्र हैं। अतः आप कामपरायण हों या रामपरायण, यह आपपर निर्भर है।

मद्भक्तः—आप अपनी प्रीति कहाँ रखेंगे, इसमें भी पूर्णतः स्वतन्त्र हैं।

सङ्गवर्जितः—कहीं भी आसक्ति करना न करना आपके अपने हाथमें है।

निर्वैरः सर्वभूतेषु—जैसे आसक्ति—राग करना आपके अपने हाथमें है, वैसे ही द्वेष करना भी आपके हाथमें है।

आप जानते हैं गीता 'समत्वं योग उच्यते' कहती है। गीतामें 'सिद्ध्यसिध्यो: समं भूत्वा' जैसी समताका बारबार उपदेश किया गया है।

इसका भी फलितार्थ है कि आपके तन-मनसे जो भी शुभ या अशुभ कर्म होने हैं, वे तो होंगे; क्योंकि वे होते हैं जगन्नियन्ताके विधानके अनुसार; किन्तु उन कर्मोंको राग या द्वेषसे रहित होकर भी किया जा सकता है।

इस राग-द्वेषके करने-न करनेमें आप स्वतन्त्र हैं, भले उन कर्मोंको करनेमें आप स्वतन्त्र न हों।

मनुष्यकी स्वतन्त्रता मोक्षके साधनमें, भक्तिमें और राग-द्वेषके त्यागमें ही है। अतः इसके लिए पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिऐ। सांसारिक कर्मोंके करनेमें या न करनेमें कोई स्वतन्त्र नहीं है। अतः ऐसे कर्मोंके होनेपर अपने कर्तृत्वका अभिमान करके उनके पाप-पुण्यका भानी बननेकी बुद्धिमानी न की जाय, यही अच्छा है।

चिन्तन-सरणि–

१—कर्म सार्थक होगा या निरर्थक होगा। मनुष्य बहुतसे कर्म निरर्थक करता है जैसे—पैर हिलाते रहना, चलते या बैठे पत्ते-तिनके तोड़ना। ये कर्म बचपना या बन्दरपना है। सार्थक कर्म सकाम होंगे या निष्काम।

२—मोक्षकी कामना, भगवत्प्राप्तिकी कामना, भगवत्प्रेम प्राप्तिकी कामना, वैराग्यकी कामना या समाधिकी कामना कामना नहीं मानी जातीं; क्योंकि इनका प्रयोजन कामनाको समाप्त कर देना है। अतः चित्तशुद्धिकी सब कामना निष्कामता है।

जैसे मकानको गिरानेमें भी मजदूर लगते हैं, श्रम होता है, फावड़े आदि चलते हैं; किन्तु वह सब भवन-निर्माण नहीं है।

३—सकाम कर्ममें कामना क्या होगी? अर्थ या काम (भोग) प्राप्तिकी कामना अथवा धर्म-कामना।

धनोपार्जन तथा रक्षणका सब प्रयास अर्थ पुरुषार्थमें आगया। अपने और अपने लोगोंके लिए सुख, स्वास्थ्य, सम्मान, पद प्राप्तिकी, इनकी सुरक्षाकी कामना कामपुरुषार्थमें आगयी।

४. **'मा फलेषु कदाचन'** जब गीतामें कह दिया गया तो अर्थ और काम पुरुषार्थ पराधीन क्षेत्र होगये या नहीं ? धन, पद-प्रतिष्ठा, स्वास्थ्य और सुख आपके प्रयत्नसे मिलेंगे या प्रारब्धानुसार ?

जब अर्थ और काम प्रारब्धके अनुसार ही मिलने हैं तो इनके लिए जो भाग-दौड़, चिन्ता-चिन्तन है, यह क्यों है ? क्या है यह ?

५. यही अविद्या है। अज्ञान है यह। आप यों भी कह सकते हैं कि

प्रारब्धके भोगों—सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयशको प्राप्त करानेके लिए प्रारब्ध ही ये चेष्टायें आपसे करा लेता है। इस सम्बन्धमें व्यक्तिका कोई स्वातन्त्र्य नहीं है।

जैसी होत होतव्यता, तैसी मिलइ सहाय।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाइ॥

बात किसीने कही हो, ठीक है। अतः अर्थ और कामके क्षेत्रमें तो हम–आप स्वाधीन हैं नहीं। अज्ञानवश ही अपनेको कर्म-स्वतन्त्र और कर्ता मानते हैं।

६. कोई शास्त्र धनोपार्जन या भोग भोगनेकी कोई आज्ञा या प्रेरणा नहीं देता। ऐसी जो आज्ञायें हैं, उन्हें स्पष्ट परिसंख्या विधि कहा जाता है। इसका अर्थ है कि वे मनुष्यकी सहज प्रवृत्तिपर अंकुश लगानेके लिए हैं।

जैसे ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है। सर्वस्व त्याग श्रेष्ठ है। संन्यास श्रेष्ठ है; किन्तु यह सम्भव न हो तो मनमाना स्वैराचारको नियन्त्रित करके विवाह करनेकी विधि है। परिवारके पालनकी आज्ञा है। ये सब अनिवार्य नहीं है; किन्तु व्यक्ति मोह एवं भोग त्याग नहीं सकता, अतः उसको संयमित-सीमित करनेके लिए आदेश हैं।

७. बात रह जाती है धर्म पुरुषार्थकी। क्योंकि मोक्ष पशु-पक्षीका तो होना नहीं है। मनुष्य ही मुक्तिका और धर्मका अधिकारी होता है। अतः मोक्ष पुरुषार्थ में तो मनुष्य स्वतन्त्र है ही। मनुष्य योनि ही मुक्त होनेके साधनके लिए मिली है।

८. धर्म पुरुषार्थ अपवाद रूपसे ही पुरुषार्थ बनता है। धर्मके लिए धर्म करनेवाले सृष्टिके ही इतिहासमें गिने चुने हुए हैं। रन्तिदेवके समान

कितने और हुए जो कह सकें—'मुझे स्वर्ग या मोक्ष नहीं चाहिए। मैं चाहता हूँ कि सबके दु:ख मैं ही भोग लिया करूँ और दूसरे सब प्राणी सुखी रहें।'

९ जिन अपवाद रूप महापुरुषोंका धर्म सचमुच पुरुषार्थ है, वे धन्य हैं। अर्थ और कामके लिए भी जो धर्मका आश्रय लेते हैं, वे भी पुण्यात्मा तो हैं ही। धर्मके क्षेत्रमें व्यक्ति यदि स्वतन्त्र न होता तो हिरण्यकशिपु, रावण, भस्मासुर तप करके सृष्टिकर्ताके लिए ही समस्या बन पाते ?

१०. शास्त्रोंमें, सन्तोंके वचनोंमें धर्म करनेकी प्रेरणा, प्रशंसा और अधर्मकी निन्दाका अर्थ ही है कि मनुष्य धर्म करनेमें भी स्वतन्त्र है। सकाम और निष्काम दोनों प्रकारके धर्मानुष्ठानमें।



गीतामें गुरुका स्थान

श्रीमद्भागवत एक सार्वभौम ग्रन्थ है। प्रायः धर्मके सभी रहस्योंका उसमें सूक्ष्म विवेचन हुआ है। कम-से-कम मेरा तो यही विश्वास है। अध्यात्मपथका प्रारम्भ ही गुरु-शिष्य भावसे होता है। अतः हमें गुरु एवं शिष्यके स्थानको समझ लेना चाहिए। आज गुरुत्वके नामपर जो कुछ प्रचार हो रहा है उसे समझनेके लिए भी गीतामें गुरुका स्थान समझना है।

प्रत्येक साधकके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह गुरुको पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण करे। शिष्यकी दृष्टिमें—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परंब्रह्म

होता है। शिष्यके लिए गुरुसे बढ़कर और कोई शक्ति नहीं। वही ईश्वर महेश्वर सब कुछ है। उसे पूर्णतः गुरुवचनोंका विश्वासी एवं श्रद्धालु होना चाहिए। क्योंकि—

संशयात्मा विनश्यति।

अर्जुनके शिष्यत्व स्वीकारसे गीताका वास्तविक प्रारम्भ होता है। गीतामें शिष्यका स्थान अर्जनका आत्मसमर्पण है—

कार्पण्यदोषोऽपहतः स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
—गी० २।७

गीताके शिष्यका स्वरूप यह है—मेरा स्वभाव अर्थात् मेरी प्रकृति कृपणताके दोषसे कुण्ठित हो गयी है। अब क्षत्रिय होनेके कारण स्वभातः मैं विशुद्ध क्षात्रधर्मको समझ सकूंगा तथा उसपर चलूंगा, ऐसी आशा नहीं। धर्मके विषयमें मेरा चित्त मोहित हो रहा है। मैं समझ नहीं पाता कि सचमुच ठीक धर्म क्या है। इस अवस्थामें जब कि चित्त ठीक निर्णय करनेमें असमर्थ है और स्वभाव कुण्ठित, मैं स्वयं कुछ नहीं कर सकता। मेरे लिए

जो कुछ भी कल्याणप्रद हो वह निश्चय बतलाइए ! मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण आया हूँ, मुझे ठीक पथपर चलाइए !

अपनी विवेक शक्तिपर जबतक विश्वास है, अपने आत्मनिर्णयका जबतक भरोसा है, तबतक शिष्यत्व कैसा ? शिष्यत्व तो तभी पूर्ण होता है जब अपनी प्रकृति एवं अपनी बुद्धिका अहंकार मिट जाता है, गुरुपर पूर्ण विश्वास और उसके वचनोंपर श्रद्धा हो जाती है। अर्जुन जब इस पूर्ण शिष्यत्वकी अवस्थामें पहुँचा है तब वह गीता श्रवणका अधिकारी हुआ है। अतः गीताका इस अर्थमें यह सन्देश है कि शिष्यको इसी प्रकार आत्मसमर्पण करना चाहिए। एवं गुरु भी ऐसे ही अधिकारी और नम्र शिष्यको ज्ञानोपदेश करें।

गुरुके प्रति जहाँ शिष्यका उपर्युक्त भाव होना चाहिए वहीं शिष्यके प्रति गुरुका भी कुछ कर्तव्य है। गुरुका कार्य शिष्यकी विचार शक्तिको जागृत करके उसे स्वयं इष्टानिष्ट सोचनेमें समर्थ बना देना है। योग्य गुरु वह है जो शिष्यको अपने समान विचारशील एवं योग्य बना दे। जो सदा शिष्यको अन्धविश्वासी रखना चाहता हो, जो उसकी विचारशक्तिको अपने सम्मुख दास बनाये रखनेका इच्छुक हो, जो शिष्यकी स्वतन्त्र आलोचनाशक्तिका दमन करना चाहता हो वह कभी गुरु होने योग्य नहीं। प्राचीन महर्षियोंका आदर्श है—

'यान्यान्यस्माकं सुचरितानि तान्याचरस्व नेतराणि।'

'सोचो ! विचार करो ! हमारे चरित्रोंकी भली-भाँति छानबीन करो। उसमेंसे जो-जो सुचरित हों उन्हींका आचरण करो, दूसरोंका नहीं।'

गुरु जो कुछ सीख कहे उसे शिष्य चुपचाप मानले, गुरु जो कुछ भी करे उसका शिष्य अन्धाधुंध अनुकरण करता जाय, यह मनोवृत्ति मानसिक दासताका द्योतन करती है। न तो यह शिष्यके लिए हितकर है और न गुरुके लिए।

गुरु शिष्यका सम्बन्ध अपराधी शासकका सम्बन्ध नहीं, जहाँ एकको दूसरेकी इच्छापर रहनेको बाध्य होना पड़े। यह सम्बन्ध तो ज्ञानका सम्बन्ध है। ज्ञानोपार्जनके लिए यह सम्बन्ध होता है। और ज्ञानकी प्राप्ति तभी होती है जब विचार जाग्रत रहे तथा उसमें वृद्धि हो। विचारको कुण्ठित कर

देनेपर ज्ञानकी प्राप्ति असम्भव हो जाती है। फिर शिष्य कभी गुरुके समान योग्य नहीं हो पाता। वह पालतू पशुके सदृश केवल पीछे-पीछे चलनेवाला बना रह जाता है।

शिष्यको गुरुकी प्रत्येक बातको समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। यद्यपि गुरुकी आज्ञाका पालन करना उसका धर्म है, आज्ञाके सम्बन्धमें उसे कुछ सोचनेका अधिकार नहीं, पर सब बातें आज्ञा थोड़े ही होती हैं। आज्ञाके अनुसार कार्य करनेके पश्चात् वह उस आज्ञाके औचित्यपर भी विचार कर सकता है एवं अपनी शंका गुरुके सम्मुख उपस्थित कर सकता है। उसकी विचारशक्ति उन्मुक्त होनी चाहिए।

गुरु जो कुछ कहते हैं वह ठीक है, यह विश्वासका विषय है। लेकिन शिष्यका कार्य इसे अन्धविश्वास बना लेनेसे नहीं चल सकता। उसे उसका मनन करना चाहिए। समझनेका प्रयत्न करना चाहिए कि वह कैसे ठीक है? उसके अतिरिक्त एवं उसके विरुद्ध कुछ क्यों ठीक नहीं हो सकता? इस प्रकार स्वतन्त्र विचारमें जो शंकाएँ उठें उन्हें गुरुके सम्मुख करके उनका समाधान करे। बार-बार मनन तथा स्वतन्त्र विचारसे गुरुके दिये ज्ञानको अपना लेना शिष्यका कार्य है। गुरुका कर्तव्य होता है कि वह शिष्यमें ऐसी स्वतन्त्र विचारशक्तिकी जागृति करे।

अर्जुन एक विचारशील व्यक्तित्व रखता था। गीतामें जहाँ उसने भगवान्‌को गुरु मानकर उन्हें आत्मसमर्पण किया, वहीं उसने अपनी विचार-शक्तिको भी स्वतन्त्र रखा। वह एक आदर्श शिष्य था। उसे ज्ञान प्राप्त करना था। अन्धविश्वासी बनना न तो वह चाहता था और न यह भगवान्‌को अभीष्ट होता। अर्जुनने गीताको समझा और जहाँ उसे सन्देह हुआ, बिना संकोचके उसने उसे व्यक्त कर दिया। चुपचाप मान लेनेका आदर्श हमें गीता नहीं सिखाती।

'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत॥' —गी० ४।१

यह अविनाशी योग मैंने सूर्यको बतलाया था, सूर्यने मनुको बतलाया, मनुने इक्ष्वाकुसे इसका वर्णन किया। इस प्रकार भगवान्‌के परम्परा निर्देश करनेपर अर्जुनको शङ्का हुई। उसने चुपचाप इसे सत्य न मानकर पूछा—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥' —गी० ४४.

आपका जन्म तो अभी बहुत पीछे हुआ है और सूर्य बहुत पूर्वकालमें उत्पन्न हो चुके हैं। मैं यह कैसे जानूँ कि आपने ही पहले यह ज्ञान सूर्यसे कहा था ?

अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् न तो आजकलके गुरुओंके समान झुँझलाते हैं और न उसे अविश्वासी या अश्रद्धालु कहते हैं। वे उसे विचार करनेका साधन देते हुए समझाते हैं—

'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥' —गी० ४.५

अर्जुन ! मेरे बहुत-से जन्म पहले बीत चुके हैं और तेरे भी। शत्रुनाशन ! मैं उन सबको जानता हूँ, पर तू नहीं जानता। इसके आगे विस्तारपूर्वक भगवान्‌ने अपने बार-बार अवतार धारणका रहस्य अर्जुनको समझाया है।

अर्जुन भगवान्‌को गुरु मानकर भगवान्‌की शरण गया था। इस गुरु भावका कहाँ तक महत्त्व है और गुरुको शिष्यके लिए कहाँतक उद्योग करना चाहिए, यह गीताका उपसंहार करते हुए भगवान्‌ने बतलाया—

'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥'–गी० १८.६३

मैंने यह गुप्तसे भी गुप्ततर ज्ञान तुझको बतलाया,इसका पूर्ण रूपसे विवेचन करकेके पश्चात् जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर ! पूर्ण ज्ञानका उपदेश करके, शिष्यका हानि लाभ उसे समझाकर तदनन्तर उसे कार्य करनेके लिए अपनी इच्छापर स्वतन्त्र छोड़ देना गुरुका धर्म है। गुरुका काम शिष्यको दास बनाना नहीं, उसका काम शिष्यको ज्ञान देकर मुक्त बनाना है।

आप शङ्का करेंगे कि भगवान्‌ने अर्जुनको यहाँ कहाँ छोड़ा। उनके उपदेशकी समाप्ति तो पूर्ण समर्पणपर होती है—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥' गी० १८.६६

'सम्पूर्ण धर्मोंको छोड़कर एकमात्र मेरी शरणमें आ ! मैं तुझे समस्त पापोंसे छुड़ा दूँगा, शोक मत कर !!' गीताकी परिसमाप्ति तो यहाँ आकर हुई है ?

बात तो ठीक है; किन्तु हमें यह जानना चाहिए कि अर्जुन केवल भगवान्‌का शिष्यमात्र नहीं, वह उनका अभिन्न मित्र भी है। भगवान् भी केवल गुरु बननेके लिए पृथ्वीपर अवतीर्ण नहीं हुए हैं और न गीता केवल गुरुका आदर्श रखनेके लिए उन्होंने प्रारम्भ की। भगवान्‌को पृथ्वीका भार उतारना है। अर्जुनका प्राकट्य भी इस उद्‌देश्यसे हुआ है। भगवान्‌को गीतामें गुरुकी भूमिका तथा उपदेशसे ऊपर उठकर आत्मसमर्पणका सन्देश विश्वको देना है। यह आत्मसमर्पण गुरुके नहीं, इष्टके प्रति होता है। यदि गुरुको ही परमाराध्य मानता हो, तो वह गुरुके प्रति भी ऐसा कर सकता है। परन्तु है यह आराध्यके प्रति। स्वयं भगवान्‌ने ही इसे स्पष्ट कर दिया है—

सर्वगुह्यतमम् भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥–गी० १८.६४

'पुनः सबसे गुह्यतम मेरे परमोपदेशको सुन! तुझे मेरा इष्ट है (तू मुझे दृढतासे आराध्य मानता है), अतः तेरे हितकी बात कहता हूँ।'

कुछ लोग इसका अर्थ करते हैं कि भगवान् अर्जुनको अत्यन्त प्रिय बतलाते हैं। किन्तु कोई भी अर्थ ग्रहण किया जाय, यह तो सर्वथा सिद्ध है कि भगवान् इस श्लोकके द्वारा यह सूचित कर रहे हैं कि आगेकी बात वे गुरु रूपसे नहीं कर रहे हैं। गीतामें और भी जहाँ कहीं आत्मसमर्पणका प्रसङ्ग आया है, भगवान्‌ने उससे पूर्व अर्जुनसे स्पष्ट कह दिया है कि मैं यह बात गुरुकी नहीं, मित्रकी दृष्टिसे कह रहा हूँ।

शिष्य गुरुको ही इष्ट मान ले और उन्हें आत्मसमर्पण करदे, यह दूसरी बात है, पर गुरुका कर्तव्य शिष्यको इसके लिए प्रेरित करना नहीं है। गुरुकी दृष्टिसे गीता 'यथेच्छसि तथा कुरु' पर समाप्त हो जाती है। भगवान्‌ने आदर्श रखकर बतलाया है कि गुरुको शिष्यसे किस प्रकार निरपेक्ष रहना चाहिए। शिष्यको 'गुह्याद्‌गुह्यतर' ज्ञानका उपदेश करे, उससे कुछ छिपाये नहीं। उसकी विचार शक्तिको पूर्ण विकसित कर दे। इसके पश्चात् उसके हानि लाभ भी उसे समझा दे और सब कुछ करके फिर उसे स्वतन्त्र कर दे। इच्छानुसार उसे अपना पथ चुन लेनेकी स्वतन्त्रता दे दे। यही गीतामें गुरुका उच्चादर्श है।

धर्मोंका केन्द्रबिन्दु

सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ गी० १८.६६

'सम्पूर्ण धर्मों' को छोड़कर तू मेरी शरणमें आ। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। चिन्ता मत कर।'

भगवान्‌के इस अभय वाक्यमें सम्पूर्ण धर्मोंका सारतत्त्व निहित है। गीताका यह महा वाक्य समस्त धर्मोंका केन्द्रबिन्दु है। हम सिद्धान्तको छोड़ दें और केवल इन अक्षरोंकी ओर देखें तो भी बाइबिल, कुरान अथवा और ही कोई धर्म ग्रंथ क्यों न हो, सभी पर इन अक्षरोंकी छाप है। सभी इन वाक्योंका अनुवाद करते दीख पड़ेंगे। उदाहरणके लिए क्या आपने ईसाईगृहके किसी द्वारपर बाइबिलका यह वाक्य नहीं पढ़ा है? 'ओ मनुष्यो! ईश्वरके पुत्रकी शरणमें आओ। वे तुम्हारे समस्त अपराधोंको क्षमा कर देंगे।'

पर छाया छाया ही है, गीताके उस महावाक्यमें शरणागतिका जो गूढ रहस्य निहित है वह भला और कहाँ प्राप्त हो सकता है? मनुष्य इस कराल कष्टमय भवाब्धिमें अपने शुभ और अशुभ कर्मोंके द्वारा ही अनादि कालसे आवागमनके चक्रमें पड़कर नाना योनियोंमें भटक रहा है। उसके कर्म ही उसके इस कष्टके कारण हैं। इस कष्टसे जीवकी तभी मुक्ति हो सकती है, तभी वह इस संसार पाशसे छूट सकता है, जबकि उसके पास पाप या पुण्य दो में से एक भी कर्म संस्कार न रह जाय। दोनों ही बन्धनके कारण हैं। एक लौहकी बेड़ी है, तो दूसरी स्वर्ण की। दोनोंमें-से एकके भी होनेपर छुटकारा नहीं। पुण्यके द्वारा पापका नाश होता हो, ऐसी भी बात नहीं। पुण्यका फल पृथक् और पापका फल पृथक्। फल दोनोंके ही भोगने होंगे। इस संसार-सागरसे, इस जन्म-मरणके चक्रसे छूटकर जीवको नित्य शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति करा देना ही प्रत्येक धर्मका, प्रत्येक परमार्थ मार्गके आचार्यका लक्ष्य है। अतः जीवके इस पाप या पुण्य दोनों ही प्रकारके बन्धनोंको दूर कर देना प्रत्येक धर्मको अभीष्ट है, क्योंकि इसके अतिरिक्त मूल उद्देश्यकी प्राप्तिका और कोई उपाय नहीं, कोई पथ नहीं।

पाप और पुण्य कर्मोंके फल हैं। कोई भी कर्म ऐसा नहीं जो निष्फल होता हो। दो में-से एक फल तो उसका अवश्य ही होगा। अतः पाप और पुण्य से पृथक् करनेके लिए प्राणीको कर्मोंसे ही पृथक् करना होगा जो कभी सम्भव नहीं। कोई जीव हो कर्म किये बिना एक पल भी नहीं रह सकता। यह विश्व, यह शरीर सब कर्मोंके परिणाम हैं। इनकी स्थिति भी तभीतक है जबतक ये कार्यशील रहें। अतः जब कर्मोंसे रहित हो नहीं सकते, तो पाप पुण्य से छूटनेका क्या उपाय है? भगवान् कहते हैं कि 'समस्त धर्मोंको छोड़ दो।' चलो पुण्यसे तो छुट्टी मिली। रहे पाप, सो उनके लिए भगवान् कहते हैं—'मैं सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा।' यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि धर्मोंको छोड़कर भगवान् अधर्म करनेका प्रोत्साहन तो नहीं दे रहे हैं? क्योंकि पापोंसे मुक्त करनेको तो कहते ही हैं, पर 'सम्पूर्ण धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें आ' इस 'मेरी शरणमें आ' पर ध्यान देनेसे ऐसी शङ्का उठ ही नहीं सकती। वे अपने शरणागतके लिए तो प्रथम ही **'मदर्थं कुरु कर्माणि'** का उपदेश दे चुके हैं। कर्म करो, पर मेरे लिए। बस, यही है कर्मफलसे छुटकारा पानेका सरल उपाय।

कर्म जड़ है। उनमें स्वतः फलोत्पादनकी शक्ति नहीं। 'मैं करता हूँ' हमारा यह अहंकार ही हमें उनके फलसे संयुक्त करता है। यदि हम अपनेको उस विश्वेशके हाथका यन्त्र समझ लें, अपनेको सर्वतोभावेन उसको समर्पण कर दें, तो फिर वह हमारे द्वारा जो कुछ भी कराये, उसके फलसे हमारा संसर्ग नहीं हो सकता। नाटकके पात्र रङ्गमञ्चपर यज्ञ करने, दान देने आदिका कार्य करतें हैं, पर उससे उन्हें पुण्य थोड़े ही होता है? साथ ही वे चोरी, डकैती, हत्याका भी अभिनय करते हैं, पर उन्हें उसका पाप नहीं लगता। यह विश्व भी एक नाटक है। हम सब उस सूत्रधार के पात्र हैं, पर हमारा अहङ्कार ही हमें इसके सुख-दुःखमें डाल रहा है। हमने अपनेको नाटकका पात्र न समझकर स्वतन्त्र कर्ता समझ रखा है। अपनेको उस सूत्रधारके करोंमें सर्वथा समर्पित कर दो। बस, सम्पूर्ण झंझट समाप्त। यही बात वह करुणासागर सूत्रधार अपने उच्चघोषमें कह रहा है। यही आत्म-समर्पण सम्पूर्ण धर्मोंका तथ्य है, समस्त धर्मोंका सार है। समर्पण—पूर्णतः समर्पण; बिना इसके कोई भी किसी भी धर्ममें, किसी भी मार्गसे क्यों न आगे बढ़ता हो, उस परमानन्द सिन्धुको नहीं प्राप्त कर सकता।

शिष्यका गुरुके प्रति आत्मसमर्पण, भक्तका भगवान्‌के प्रति आत्म-समर्पण, देश सेवकका देशके प्रति आत्मसमर्पण, प्रेमीका प्रेमास्पदके प्रति आत्मसमर्पण। आत्मसमर्पण ही सफलता और पूर्णताकी कुंजी है। संसारमें भी प्रसिद्ध है कि वही सफल कार्यकर्ता है जो कार्य करते समय तन्मय हो जाता है, अपने पृथक् अस्तित्वको भूल जाता है। श्रुति कहती है—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** पर उस ज्ञानप्राप्तिका एकमात्र उपाय है—**'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं'** वाला मन्त्र। ज्ञान गुरुसे ही प्राप्त होता है और ज्ञानका अधिकारी वही शिष्य होता है जो अपनेको पूर्णतया गुरुके ऊपर निर्भर कर दे। एक उर्दू शायर कहते हैं :—

न हम कुछ हँसके सीखे हैं, न हम कुछ रोके सीखे हैं।
जो कुछ थोड़ा सा सीखे हैं, किसी के होके सीखे हैं।।

ठीक यही बात है। संसारके इन सुख और दुःख देनेवाले पदार्थोंमें आसक्ति करके हँसने और रोने से ज्ञान थोड़ ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि उसे प्राप्त करना है तो किसी का होना पड़ेगा। किसी को आत्मसमर्पण करना होगा। इस समर्पणके लिए भला उस विश्वेशसे अधिक उपयुक्त पात्र और कौन होगा ?

प्राणी जिस वस्तुका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़ता है, दूसरे जन्ममें उसे उसी शरीरकी प्राप्ति होती है। चित्त एक ऐसी वस्तु है कि हम जिस वस्तुका भी चिन्तन करते हैं, वह तदाकार हो जाता है। चित्तका जो आकार अन्त समयमें होता है, वह पुनः वैसे ही शरीरको प्राप्त करता है। अतः गीताके अपने उस महाकाव्यमें भगवान् कहते हैं—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज'** सम्पूर्ण धर्मोंको छोड़ दो। चित्तमें जितने भी सांसारिक पदार्थोंके धारण करनेके धर्म हैं उन सबको छोड़ दो। किसी भी दूसरे पदार्थका चिन्तन मत करो। केवल एक मेरी ही शरण आओ। केवल मुझमें ही चित्तको लगा दो। थोड़े से इन शब्दोंमें, इस आधे श्लोकमें सम्पूर्ण धर्मोंके साधनका सार बता दिया गया। सभी धर्म, सभी मार्ग यही तो साधन बताते हैं, यही तो उनके विभिन्न साधनोंका लक्ष्य होता है कि किन्हीं भी सांसारिक पदार्थोंका चिन्तन न करके एकमात्र परमात्माका ही चिन्तन किया जाय। चित्त निरन्तर उसी में लगा रहे। यह दूसरी बात है कि प्रारम्भ में नाना प्रकारके साधनोंका अवलम्बन कराया जाता हो, पर सबके मूलमें एकमात्र यही लक्ष्य निहित है।

आधे श्लोकसे साधन बताकर अब आधे श्लोकसे फल बताते हैं—

'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।'

चिन्ता मत कर, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे, कष्टोंसे, संसारके इस आवागमनके चक्रसे (क्योंकि यही तो महान् कष्ट है । कष्ट होता है पापका परिणाम, अत: समस्त पापोंसे, समस्त आधिदैविकादि तापोंसे, मायाके इस प्रबल प्रहारसे) मुक्त कर दूँगा । समस्त धर्मोंके साधनोंका सार बताकर इस अन्तिम आधे श्लोकमें समस्त धर्मोंके साधनोंका फल बता दिया । जब चित्त संसारके पदार्थोंका चिन्तन छोड़कर सतत भगवच्चिन्तन करने लगेगा तब वह तदाकार हो जायगा । फिर संसारके आवागमनके चक्रसे वह सदाके लिए छूट जायगा । जबतक चित्त संसारके पदार्थोंमें लगा है, जबतक विषयोंमें हमारी रुचि है, जबतक मन विषयोंका चिन्तन कर रहा है, तबतक चाहे वह कोई भी हो, कैसा भी हो, किसी भी धर्मका हो, उसे भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती, तबतक उसे संसारमें पुनः-पुनः आना ही होगा । कोई भी धर्म ऐसा नहीं जो यह कह सके कि संसारका चिन्तन करते हुए भी मुक्ति हो सकती है । यह सर्वथा असम्भव है । अन्धकार और प्रकाश एकत्र नहीं किये जा सकते ।

चित्तका धर्म है कि वह सदा कुछ-न-कुछ सोचा करता है । बिना चिन्तनके चित्त एक क्षण भी नहीं रह सकता । यही कारण है कि साधकको भिन्न-भिन्न परमार्थ मार्गमें भिन्न-भिन्न साधन बताये जाते हैं, जिससे कि उन-उन साधनोंका अवलम्बन करके साधक संसारके विषयोंके चिन्तनसे चित्तको हटानेके लिए होते हैं । साधनोंका ही चिन्तन सदाके लिए अभीष्ट हो यह किसी भी धर्मको अभीष्ट नहीं । साधनोंके चिन्तनकी भी एक सीमा है । उसपर पहुँचकर साधकको चाहिए कि उन साधनोंको छोड़ दे । इसीको लक्ष्य कर भगवान् कहते हैं—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य ।'** सम्पूर्ण साधनोंका लक्ष्य है चित्तको इस योग्य बना देना कि वह सतत भगवच्चिन्तन कर सके । जब चित्त इस योग्य हो गया, तब तो फिर **'मामेकं शरणं व्रज'** उसी अखिलेश्वरकी शरण लो । फिर अन्य किसी भी साधनकी अपेक्षा नहीं । और तब साधनोंमें आग्रह होना भी नहीं चाहिए । फिर उनकी कोई उपयोगिता नहीं । जब निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो गयी तब शोधक प्राणायामकी भला क्या आवश्यकता ?

चित्त वासनाके द्वारा ही निर्मित हुआ है। संस्कारोंके घनीभावको ही चित्त कहते हैं। जबतक ये संस्कार हैं तभीतक चित्त भी है, और तभीतक जीवका बन्धन है। इन्हीं सस्कारोंको नाना प्रकारकी साधन-प्रणालियोंसे नष्ट करनेका प्रयत्न सभी धर्म करते हैं। पर साधन एक स्वयं संस्कार हैं। अत: उनके द्वारा और संस्कारोंका त्याग करके अन्तमें उनका भी त्याग करना ही होगा। सभी धर्म इस बातको मानते हैं कि सिद्धके लिए साधनकी कोई अपेक्षा नहीं। गीताके **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** में इसी सारभूत सिद्धान्तका भगवान्ने प्रतिपादन किया है। समस्त साधनोंको भी त्यागकर अन्तमें केवल उस परमानन्द सिन्धुको ही आश्रयीभूत करना चाहिए। निरन्तर एकमात्र उसीका चिन्तन करना चाहिए। चित्तको और कहीं भी नहीं जाने देना चाहिए; यही सम्पूर्ण परमार्थ मार्गके आचार्योंका मूल उपदेश **'मामेकं शरणं व्रज'** के द्वारा बतलाया गया है। जबतक मनमें सङ्कल्प विकल्प है, शङ्का सन्देह है, तभीतक किसी एक स्थानपर दृढ स्थिति नहीं होती। इसलिए भगवान् कहते हैं 'मामेकं' मुझ एक की ही। शङ्काको दूर कर सन्देहको छोड़कर मुझे एक की ही शरणमें आ।

'मा शुच:' शोक मतकर, निर्भय हो जा। जबतक पूर्ण विश्वास न हो, जबतक पूर्ण आश्वासन न प्राप्त हो जाय, जबतक दृढ़ आशा एवं विश्वास न हो, तबतक कोई भी आत्मसमर्पण कैसे कर सकता है ? अत: भगवन् कहते हैं—'चिन्ता मतकर तुझे शोक करनेकी कोई आवश्यकता नहीं।' ठीक ऐसा ही विश्वास, इतनी ही निर्भयता देकर तब कोई धर्म अपने अनुयायियोंको अपने मार्गपर चला सकता है। यों तो शिष्य वह सब करता है जो उसे अपने लिए करना आवश्यक है। पर मनुष्यका स्वभाव है कि वह एक आधार चाहता है, वह एक अवलम्बन चाहता है जो उसके सम्पूर्ण कार्योंका उत्तर-दायित्व अपने ऊपर ले ले। जो जैसे चाहे वैसे हमें चलावे। हम जहाँ भूलें, हमारा हाथ पकड़ कर ठीक मार्ग बता दे। यदि हम गिरें तो वह झट हमें उठा ले। ऐसा अभिभावक पाकर मनुष्यका जीवन पूर्ण हो जाता है। वह अपने मार्गमें अपनी पूरी गतिसे बढ़ पाता है; क्योंकि तब उसे और किसी दूसरी ओर की चिन्ता नहीं रह जाती। वह जानता है कि और समस्त बातोंकी देखभाल करनेवाला मेरा रक्षक है। जीवको भगवान्से ही ऐसी रक्षा प्राप्त हो सकती, उन्हींकी शरण इतनी पूर्ण हो सकती है।

यों तो व्याख्या बहुत बढ़ जायगी, अत: साधारण दृष्टिपात करके ही

हम इस प्रबन्धको समाप्त करते हैं। विश्वमें जितने प्रकारके धर्म हैं, सबके ही सिद्धान्तोंका सार इस गीतामें भगवान्‌के अन्तिम वचनमें निहित है। इस श्लोकमें *अनन्य भावसे एक भगवान्‌का आश्रय* ही सम्पूर्ण पापोंके नाशका उपाय बतलाया गया है। यही एकमात्र उपाय है जो हमारी इस अहर्निश धधकती हुई चिन्ताज्वालाको शान्त कर सके। भगवान्‌की प्राप्ति (उनकी शरण) समस्त धर्मोंका एकमात्र लक्ष्य है। वास्तवमें तो धर्म वह है जिसके द्वारा धारण किया जाता है। जिससे रहित होकर कोई रह ही नहीं सकता वही उसका धर्म है। जैसे मनुष्यका धर्म है मनुष्यत्व, पर यह जगत् उस परमात्माकी सत्तासे ही सत्तावान् है। वही इस विश्वका धारक है। उसकी सत्ताके बिना इस विश्वकी स्थिति ही नहीं। अतः वही समस्त धर्मोंका, समस्त धर्मियोंका धर्म है। वही सबका मूलकारण है, वही सबका लक्ष्य है, प्राप्य है। अतः धर्म नाम ही उसका है जो उसकी प्राप्ति करावे, जो उसकी ओर हमें प्रवृत्त करके आगे बढ़ावे। जो ऐसा नहीं है वह धर्म नहीं, वह तो अधर्म है।

गीता सार्वभौम आध्यात्मिक सिद्धान्तका ग्रन्थ है। विश्वके समस्त धार्मिक सिद्धान्तोंका वह उद्‌गम है, समन्वय है। उसके सिद्धान्तोंमें अपवाद या अनुदारताको स्थान नहीं। पर गीतामें दिया हुआ भगवान्‌का यह अन्तिम परमोपदेश तो समस्त धर्मोंका केन्द्रबिन्दु है। समस्त सिद्धान्त इसमें निहित हैं। समस्त सिद्धान्तोंका यहाँ आकर समन्वय हो जाता है। यहीं आकर समस्त सिद्धान्त एकत्र हो जाते हैं। समस्त साधन इस लक्ष्यबिन्दु पर आकर स्थित हो जाते हैं। इन दो पङ्क्तियोंमें उस योगेश्वरेश्वर जगद्‌गुरुने विश्वके समस्त अध्यात्म उपदेशका सार निहित कर दिया है। इसकी विस्तृत व्याख्या करें, ऐसी शक्ति भला इस जड़ लौह लेखनीमें कहाँ ? हम अन्तमे उस गीता-ज्ञानके वक्ताको प्रणाम करके इस प्रबन्धको समाप्त करते हैं।

गीताका कर्मयोग

श्रीमद्भगवगीताकी प्रवृत्ति युद्धसे विरत होते हुए अर्जुनको युद्धरत करनेके लिए हुई है और इसमें गीताका ज्ञान सफल रहा है, अतः मानना होगा कि गीता प्रवृत्ति प्रधान ग्रंथ है। यों तो उसमें निवृत्तिका भी वर्णन है, परन्तु वह गीताका अपना विषय नहीं। अर्थोंकी खींचतान यदि न की जावे तो गीताको निष्काम कर्मयोग परक मानना ही होगा। गीताके प्रवृत्ति प्रधान होनेका एक पुष्ट प्रमाण है उसकी यह परम्परा। भगवान्ने बताया है—

> इमं विवस्वते योगं प्रोक्त वानहमव्ययम्।
> विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
> एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।"

'अविनाशी मुझ परमात्माने यह (गीता रूपी) योग सूर्यको बतलाया था। सूर्यने उसका उपदेश मनुको दिया और मनुने इक्ष्वाकुको। इसी प्रकार परम्परा द्वारा आये इस योग को राजर्षि लोग जानते रहे।'

इस परम्परामें सभी प्रवृत्ति प्रधान क्षत्रिय बताये गये हैं। निवृत्ति प्रधान नारद, सनकादि, दत्तात्रय प्रभृतिको छोड़कर सूर्य, मनु और इक्ष्वाकुका नाम लिया गया है जो क्षत्रियवंशके प्रतिष्ठापक एवं कर्मरत नरेश हैं। आगे भी 'राजर्षयो विदुः कहा गया है। यह ज्ञान प्रवृत्ति प्रधान राजर्षियोंका रहा है, निवृत्ति प्रधान ब्रह्मर्षियोंका नहीं। लोक संग्रहके लिए निष्काम होकर राज्य करते हुए, दुष्टोंके दमनमें तत्पर चक्रवर्ती नरेश इस ज्ञानका आश्रय लेते रहे हैं। इस परम्पराके अतिरिक्त भगवान्ने स्थान-स्थान पर स्पष्ट कहा है 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' आदि।

सम्पूर्ण गीता निष्काम कर्मयोगका शास्त्र है। उसमें कर्मयोगके प्रत्येक पहलूपर विशदरूपसे विचार किया गया है। लेकिन पूर्वकालमें वर्णनकी रीति 'समास व्यास विधिना' थी। किसी विषयको प्रथम कहीं थोड़े शब्दोंमें कह देते थे और पुनः उसीका विस्तार करते थे। भगवान्ने इस परम्पराकी रक्षाकी है। सम्पूर्ण कर्मयोगको सूत्र रूपसे एक श्लोकमें बता दिया है। फिर

उसीका विस्तार किया गया है। चार सूत्रोंमें गागरमें सागर भर दिया गया है। वह कर्मयोगकी चतु:सूत्री है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

'तेरा अधिकार कर्म करनेमें ही है, फलमें कभी नहीं। कर्मफलका कारण मत बन। अकर्मसे तेरा साथ न होवे।'

'कर्मण्येवाधिकारस्ते' कर्म करनेमें तेरा अधिकार है। कर्मयोगका यह प्रथम सूत्र है। इसमें बतलाया गया है कि जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। कर्म करनेसे उसे कोई रोकता नहीं। मनुष्य योनिकी यही विशेषता है कि इस मानव शरीरमें आकर स्वेच्छानुसार कर्म कर सकता है। वह अपने उत्थान या पतनका मार्ग यहीं बनाता है। मानव शरीरमें किये कर्मोंको ही वह देव, दैत्य, पशु, तिर्यक्प्रभृति योनियोंमें भोगता है। गीतामें इसके विपरीत दो श्लोक आते हैं—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'

ईश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयमें रहता है और अपनी मायासे उन्हें यन्त्रपर चढ़े हुएकी भाँति घुमाता रहता है।

'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।'

प्राणी मात्र अपने स्वभावके अनुसार ही बर्ताव करते हैं, वहाँ निरोध कुछ भी नहीं करता।

इस प्रकारके जो वाक्य आये हैं, उनका तात्पर्य यह नहीं कि मनुष्य कर्म करनेमें परतन्त्र है। यदि वह कर्म करनेमें परतन्त्र हो तो शास्त्रोंके समस्त विधि-निषेध व्यर्थ हो जावेंगे। क्योंकि व्यवस्था तो स्वतन्त्रके लिए ही बनती है। परतन्त्रतापूर्वक जो कर्म मानव करेगा, उसका फल-भागी भी वह नहीं हो सकता। अतएव कर्म करनेमें मनुष्यको स्वतन्त्र ही मानना होगा। यही बात भगवानने प्रथम सूत्रसे कही। ईश्वर प्राणि-मात्रके हृदयमें रहता और उन्हें यन्त्रारूढ़की भाँति घुमाया करता है तथा जीवमात्र अपनी-

अपनी प्रकृतिके परतन्त्र हैं, इसको कहनेका उद्देश्य मनुष्य कर्म करनेमें कहाँतक स्वतन्त्र है, इस स्वतन्त्रताकी सीमा बतलाना है। कर्म करनेमें स्वतन्त्र होते हुए भी मानव 'कर्तुंमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ तो है नहीं। उसके कर्म स्वातन्त्र्यकी सीमा है।

प्रत्येक व्यक्ति संसारमें किसी-न-किसी विशेष उद्देश्यसे आता है और उसका एक जन्मजात स्वभाव भी होता है। वह उस विशेष उद्देश्यको करते हुए और स्वभावके अनुसार कर्म करनेमें समर्थ होता है। उनके विपरीत जानेके लिए वह स्वतन्त्र नहीं। उदाहरणके रूपमें अर्जुनको लीजिये, पृथ्वीके भारको दूर करनेके विशेष उद्देश्यसे उसका जन्म हुआ था। अतएव इस कार्यमें वह ईश्वर परतन्त्र हुआ। उसे यह कार्य करना होगा। ईश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयमें रहता हुआ उन्हें घुमाता रहता है, इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि भगवान हृदयमें हैं और उन्हींके प्रकाशसे जीव यावत्कर्म करता है। हमारे शरीरके भीतर जितने रक्तके कीटाणु हैं, वे जिस स्थान पर हैं, वहाँ रहनेके लिए विवश हैं। कहा जा सकता है कि हमारी शक्ति उनके भीतर है और हमीं उनको संचालित करते हैं। परन्तु वे अपने स्थान पर रहते हुए अपनी चेष्टाओंमें स्वतन्त्र हैं। ऐसे ही ईश्वर द्वारा नियुक्त स्थान पर रहते हुए, संसारमें अपने आनेके विशेष उद्देश्यको पूर्ण करते हुए मनुष्य अपनी दूसरी चेष्टाओंमें स्वतन्त्र है। यही मनुष्यका कर्म-स्वातन्त्र्य है।

'प्रकृतीं यान्ति भूतानि' में जीवको स्वभाव परतन्त्र बताया गया है। स्वभाव परतन्त्रतासे कर्मकी स्वतन्त्रतामें कोई बाधा आती नहीं। इतना अवश्य होता है कि स्वभावके विपरीत चलनेके लिए मनुष्य समर्थ नहीं। एक व्यक्तिका स्वभाव क्रोधी है। अब चाहे कि उसे क्रोध न आवे, यह असम्भव नहीं तो कठिनतम अवश्य है। लेकिन क्रोधके उपयोगमें तो वह स्वतन्त्र है ही। वह पापियों, दुष्टों तथा अपने दुर्गुणोंपर क्रोध करके संसारकी भलाई एवं अपनी आत्मोन्नति कर सकता है। दुष्टोंसे मिलकर निरपराधियों पर क्रोध करेगा तो उसका परिणाम उसके लिए घातक होगा। इसी प्रकारके स्वभावोंका भला और बुरा उपयोग हो सकता है। स्वभावके उपयोगमें मनुष्य स्वतन्त्र है और यही उपयोग उसकी उन्नति या अवनतिका कारण होता है, अतः स्वभाव परतन्त्र होते हुए भी वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, ऐसा कहनेमें कोई बाधा नहीं। इसीलिए भगवान्ने 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' कहा।

केवल कर्ममें अधिकार है, स्वभाव परिवर्तन या ईश्वरके दिये स्थान परिवर्तनमें नहीं।

'मा फलेषु कदाचन' फलमें तेरा अधिकार कभी नहीं। यह दूसरा सूत्र है कर्मयोगका। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक ही परिस्थितिमें, एक ही प्रकारके साधनसे, एक ही कर्मके करनेवालोंमें फल भेद होता है। कोई विफल होता है, कोई किसी अंशमें ही सफल होता है और कोई हानि भी उठाता है। अतः उद्योगका फल उद्योगपर निर्भर हो, ऐसी बात नहीं। फल तो प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होता है। गोस्वामीजीने कहा है—

'हानि लाभ जीवन मरण, जस अपजस विधि हाथ।'

कर्मके परिणाम स्वरूप हानि-लाभ, जीवन-मृत्यु, यश एवं अपयश ये प्रारब्धके अनुसार होते हैं। इन्हें प्राप्त करनेमें हम परतन्त्र हैं। अतः कर्मका यह फल होगा ही या यह फल होना ही चाहिए, ऐसा सोचकर कर्म करनेवाले सर्वदा दुःख पाते हैं। फल भगवानको समर्पित करके कर्तव्य बुद्धिसे कर्म करना चाहिए। फलासक्ति ही सर्वदा कष्ट देती है। यदि फलकी आसक्ति छोड़ दी जावे तो फिर कष्ट क्यों हो। जिसमें अपना अधिकार नहीं, उसमें आसक्ति करके कष्ट तो भोगना ही पड़ेगा।

तीसरे सूत्रमें कहा गया—**"मा कर्मफलहेतुर्भूः"** कर्म-फलके कारण मत बनो! कर्म करनेपर उसका अच्छा या बुरा, पूरा या अधूरा कुछ-न-कुछ फल तो होता ही है। वह फल मेरे कर्मसे, मेरे उद्योगसे हुआ है ऐसा मत समझो। क्योंकि कर्म-फलका कारण केवल उद्योग तो है नहीं।

'अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरं वा मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति दुर्मतिः॥'

१८.१४.१५.१६

अधिष्ठान (कर्मका जो आधार है) कर्ता (करनेवाले की शक्ति और योग्यता) नाना प्रकारकी सामग्रियाँ (जो उपयोगमें आती हैं, उनकी अच्छाई बुराई) विविध प्रकारकी भिन्न-भिन्न चेष्टा (जितनी तत्परतासे

और ठीक समयपर हों) तथा प्रारब्ध (जैसा अनुकूल या प्रतिकूल हो) ये पाँच उन सब उचित और अनुचित कर्मोंके कारण होते हैं जो मनुष्य शरीरसे, मनसे अथवा वाणीसे प्रारम्भ करता है। अज्ञता वह जो कर्मोंमें केवल अपनेको कारण मानता है, वह दुर्बुद्धि ठीक नहीं समझता।

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥'

सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंके द्वारा किये जाते हैं, केवल अहंकारसे मूढ़ बुद्धि हुआ पुरुष अपनेको कर्ता समझता है। यह कर्ता समझना ही बन्धनका हेतु है। जब पुरुष अपनेको कर्ता मान लेता है, कर्मफलको अपने उद्योगका फल मानता है तो वह उसके पाप-पुण्यका भागी होकर संसार चक्रमें भटकता रहता है। कर्तापनका यह अभिमान हो उसे पाप-पुण्यसे युक्त करता है। अन्यथा—

'गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।'

त्रिगुण अपने गुणोंमें ही वर्ताव कर रहे हैं, ऐसा समझकर उनके द्वारा किये कर्मोंसे संसक्त नहीं होता।

'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यति।
हत्वाऽपि स इमान्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥'

'मैंने यह कार्य किया है' ऐसा अहंभाव जिसमें नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्ममें लिप्त नहीं होती, वह त्रिभुवनके संहारके सदृश घोर कर्म करे तो भी न तो वह हत्यारा होता और न उसे उस कर्मसे बन्धन होता। भगवान शंकर इसके साक्षात् उदाहरण भी है। सम्पूर्ण विश्वका प्रलय करके भी वे शिव—कल्याण स्वरूप ही रहते हैं।

बात यह है कि कर्ममें अहंकार व्यक्तिसे पाप कराता है। पाप सर्वदा भोगेच्छा या स्वार्थ बुद्धिसे होते हैं, ऐसे ही सकाम पुण्य कर्म भी अहंकार युक्त और यशादिकी इच्छासे ही होते हैं। जिसमें अहंभाव नहीं हैं, उससे न तो पाप हो सकते और न सकाम पुण्य। वह केवल अपने स्वभावके अनुसार उस कर्मको करेगा, जिस कर्म विशेषके लिए विश्वनियन्ताने उसे भेजा है। उसके द्वारा जो भी कर्म होता है, वह विश्वकर्ताकी इच्छा ही से होता है। अतः वह उस कर्मके फलसे क्यों संसक्त होने लगा, फलसे तो संसर्ग तभी होता है जब उस फलमें आसक्ति हो। मैंने उसे प्रकट किया है, ऐसा अहंकार

हो अतएव भगवान् इस अहंकारसे जो कि मिथ्याहंकार है, सावधान करते हैं **'मा कर्मफल हेतुर्भूः'** कर्मफलको अपने उद्योगका फल समझ उसके कारण मत बनो ! यह तो प्रारब्धकी देन है, भगवान्‌का प्रसाद है।

'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' यह चौथा और अन्तिम सूत्र है कि तुम्हारा अकर्मसे संग न हो ! आलसी बनकर बैठे मत रहो ! 'फलमें अपना अधिकार ही नहीं, उद्योग करनेपर भी फल होगा यह निश्चित नहीं, फल हो भी तो वह प्रारब्धसे होता है, उद्योग उसका कारण नहीं ऐसा समझकर उद्योग करना ही मत छोड़ दो ! कर्म करना तुम्हारा कर्तव्य है, अतः तुम्हें कर्म तो करना ही चाहिए। क्योंकि तुम कर्मको छोड़ नहीं सकते। कर्म करनेके लिए विवश हो।

'न कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्टत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्मः सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।'

कोई उत्पन्न हुआ प्राणी एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृतिके गुणोंसे विवश होकर गुणों द्वारा उससे कर्म कराया ही जाता है। सभी इस प्रकार प्रतिक्षण कर्म करते ही रहते हैं। चाहे हम इन्द्रियोंको रोककर कर्म करनेसे विरत भी रख सकें, पर मनीराम तो माननेसे रहे। उनकी उधेड़-बुन तो चला ही करेगी। फिर इस प्रकार इन्द्रियोंसे कर्म न करना कोई अच्छा तो है नहीं—

'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥'

जो मूर्ख-बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको कर्मोंसे रोककर मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन करता है, वह पाखण्डी कहा जाता है ! इस प्रकारके पाखण्डसे कोई भी लाभ नहीं है। इस वाह्य त्यागके द्वारा कोई भी नैष्कर्म्यावस्थाको नहीं पाता।

'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥'

कर्मको आरम्भ न करने मात्रसे पुरुष निष्कर्मावस्थाका आनन्द नहीं प्राप्त करता और न तो करते हुए कर्मोंको छोड़ देने (कर्म संन्यास) मात्रसे नैष्कर्म्य सिद्धिको पाता है। निष्कर्मता तो मनका धर्म है। शरीरके द्वारा निष्क्रिय हो भी गये तो क्या लाभ ? क्योंकि बन्धन और मोक्षका कारण तो

है मन। इस मनको निष्क्रिय बनाना है। मनकी निष्क्रियता है कर्म और कर्मफलसे अनासक्त रहना। इसके अतिरिक्त शरीरसे कर्म छोड़ देनेमें हानि भी है। सभी जानते हैं कि सत्त्व-गुणका धर्म आनन्द, रजोगुणका धर्म क्रिया तथा तमोगुणका धर्म निद्रा एवं आलस्य है। कोई भी निरन्तर सत्त्वगुणमें स्थित रहे, यह नितान्त कठिन है। सत्त्वगुणमें स्थिति न रहनेपर यदि हम बलात् कर्मको त्याग दें और इस प्रकार रजोगुणमें न रहनेका दुराग्रह करें तो निश्चय है कि हमें तमोगुणमें रहना हो। हमारे द्वारा निद्रा एवं आलस्यका पोषण होगा। यह स्थिति किसी भी अध्यात्म मार्गके पथिकके लिए भयंकर है।

एक महापुरुषका कहना है–'चोर एवं डाकू तो अच्छे हैं, उन्हें भगवान मिल सकते हैं; लेकिन निरन्तर आलस्यमें पड़े रहनेवाले अच्छे नहीं। उन्हें कभी भी प्रभुके दर्शन न होंगे।' मतलब यह है कि रजोगुणसे सतोगुणमें पहुँचना तो शक्य है, लेकिन तमोगुणसे सतोगुणमें नहीं पहुँचा जा सकता। इसलिए घोर कर्म करनेवाले डाकू प्रभृति भी राजसिक होनेके कारण नींद एवं आलस्यमें पड़े रहनेवाले लोगोंसे श्रेष्ठ तथा भगवानके निकट हैं। कुछ भी न करके आलस्यमें पड़े रहनेकी अपेक्षा कुछ भी करना, बुरेसे बुरा काम भी करना अच्छा है। क्योंकि क्रियामें मनुष्य तामसिकतासे उठकर कुछ तो रजोगुणमें आता ही है।

स्पष्ट है कि बलपूर्वक कर्मका त्याग किसी भी साधकके लिए हितकर नहीं हो सकता। इससे उसकी हानि ही होगी। कर्म-त्याग करके वह अपने पतनका मार्ग बना लेगा अतएव भगवान् साधकको सावधान करते हैं **'मा ते संगोस्त्वकर्मणि'** अकर्मसे तुम्हारा संग न हो! तुम कहीं आलसी न बन जाओ। इन चार सूत्रों द्वारा गीताके एक ही श्लोकमें पार्थ-सारथिने सम्पूर्ण कर्मयोग बतला दिया है। कर्म करनेमें तुम स्वतन्त्र हो, परन्तु फल तुम्हारे अधीन नहीं। कर्मका फल हो भी तो उस फलका कारण अपनेको मत समझो। साथ ही कर्म करना छोड़ भी मत दो! यही सम्पूर्ण कर्मयोग है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

जो कुछ करते हो, जो भोजन करते हो, जो हवन करते हो, जो दान करने हो और तपस्या करते हो वह सब मुझे अर्पण करदो! कर्म करते रहो! छोड़ो मत! पर उसे कर्तव्य समझकर और उसके फलको भगवदर्पण करते हुए।





नैष्ठिक ब्रह्मचारी केशवानन्द जी महाराज

आप आध्यात्मिक ज्ञान भक्ति एवं कर्मनिष्ठा के मूर्तिमान स्वरूप परमपूज्य ब्रह्मलीन स्वामी श्री रामधारी जी महाराज के प्रतिभावान् शिष्य हैं। उन्हीं के प्रसाद से आपने अन्तः चेतना में भक्ति और वाह्य जीवन में कर्मयोग की लोक-हितकारी सेवा को जीवन का लक्ष्य बनाया है।

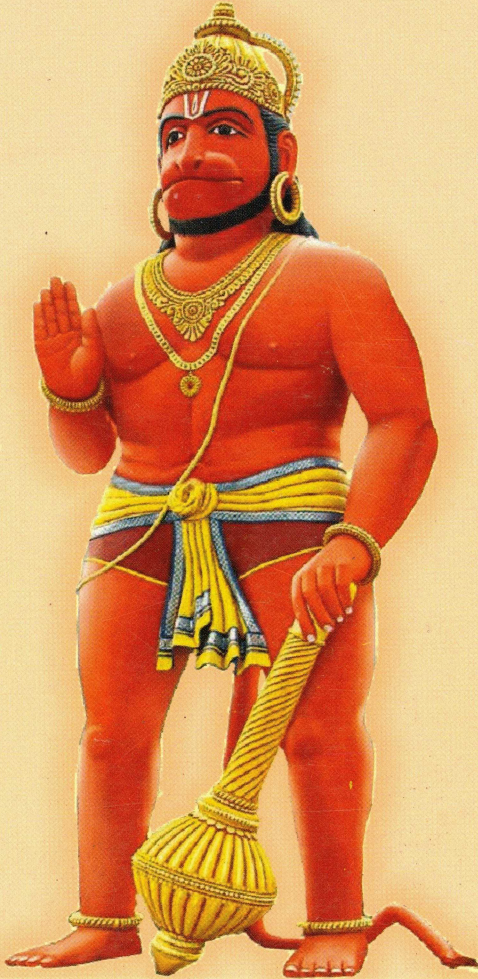
आप ''श्री राम आध्यात्मिक प्रन्यास'' में संस्थापक होने के साथ-साथ हनुमद्धाम के सर्वोन्मुखी विकास के कुशल निर्देशक एवं प्राणवन्त संचालक है।

'सर्वभूतहिते रताः' के उपासक के रूप में जन-कल्याण के लिए आपका समर्पित जीवन हनुमद्धाम में विविध रूपों में उजागर हो रहा है जिसमें हनुमत रसोई (अन्नक्षेत्र), गौ सेवा सम्वर्धन-रक्षण एवं साधु-संत सेवा में अहर्निश संलग्न रहना कर्मठता, सेवा भावाना एवं प्रेम का जीवन उदाहरण हैं।

जाति, वर्ग, पंथ के लौकिक बन्धनों से विरत रहकर मूक तपस्वी की भाँति लोक कल्याण में निरत रहना आपका ध्येय और हनुमद्धाम में आये हुए आगन्तुकों को श्री हनुमद् चरण सन्निधान में प्रीति प्राप्त हेतु श्रेय भावी मार्ग एवं जन कल्याण भावी लोगों को प्रेय (लौकिक) मार्ग प्रशस्त एवं सुलभ कराना लक्ष्य है। जो निःस्वार्थ मानव सेवा का प्रतीक है।




श्री हनुमानजी का 700 करोड़ रामनाममयी 77 फुट ऊँचा विग्रह





श्री राम आध्यात्मिक प्रयास

हनुमद्धाम

शुकतीर्थ, जनपद मुजफ्फरनगर (ऊ०प्र०)

वेबसाइट : www.hanumaddhamshukratal.com

ईमेल : hanumaddham.skt@gmail.com

मोबाइल : 9457546661, 9720514512

फोन : 01396-228225